

---

# गाय की पूँछ तुम रखो, हमें हमारी ज़मीन दो

(दलित विद्रोह के नए रूप)



सुभाष गाताडे

पुस्तिका सीरीज़-75

प्रकाशक :

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com)

वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in) / [www.sach.org.in](http://www.sach.org.in)

प्रकाशन वर्ष : 2016

केवल सीमित वितरण के लिए

पुस्तिका सीरीज़-75

गाय की पूँछ तुम रखो,  
हमें हमारी ज़मीन दो  
(दलित विद्रोह के नए रूप)

सुभाष गाताडे

---

जब मैं पैदा हुआ तब मैं बच्चा नहीं था  
मैं एक स्वप्न था, एक विद्रोह का स्वप्न  
जिसे मेरी माँ, जो हजारों सालों से उत्पीड़ित थी  
उसने संजोया था  
अब अभी भी मेरी आंखों में अछूता पड़ा है  
हजारों सालों की झुर्रियों से ढंका उसका चेहरा  
उसकी आंखें, आंसूओं से भरे दो तालाबों ने  
मेरे शरीर को नहलाया है...

—साहिल परमार

गुजराती के जाने-माने कवि साहिल परमार की कविता 'जब मैं पैदा हुआ' का  
मूल गुजराती से अनुवाद जी के वनकर द्वारा,  
<http://roundtableindia.co.in/lit-blogs/?tag=sahil-parmar>

(1)

## गाय से प्रेम, मनुष्य से नफरत ?

हर अधिनायकवादी परियोजना की विकास यात्रा में ऐसे मुकाम अचानक आ जाते हैं कि उसके द्वारा छिपायी गयी तमाम गोपनीय बातें अचानक जनता के सामने बेपर्द हो जाती हैं और बिगड़ते हालात को संभालना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। हिंदुत्व की ताकतों ने पिछले दिनों अपने आप को इसी स्थिति में पाया जब गुजरात में उदघाटित हुए दलित विद्रोह ने—जिसकी प्रतिक्रिया बाकी मुल्क में भी दिखाई दी—उसके लिए बेहद असहज स्थिति पैदा कर दी। ऐसा लम्बे अरसे के बाद हो रहा था कि हजारों की तादाद में समाज के सबसे वंचित तबकों से जुड़े लोग एकत्रित हो रहे थे और यह ऐलान कर रहे थे कि वह अपनी मांगों को पूरा करके ही मानेंगे। और यह सिलसिला महज किसी खास जिले या इलाके तक सीमित नहीं था।

सौराष्ट्र के उना में 15 अगस्त को 'उना अत्याचार लडत समिति' की अगुआई में पहुंची दलित अस्मिता यात्रा समाप्त हुए भले कुछ माह बीतने को हो, उसमें शामिल हजारों दलित, जो राज्य के अलग-अलग हिस्सों से वहां पहुंचे थे, अब भले अपने-अपने काम में जुट गए हों, मगर उनका यह संकल्प कि हाथ से मल उठाने, सीवर में उतर कर उसकी सफाई करने या मरे हुए पशुओं की खाल उतारने के काम को अब नहीं करेंगे, आज भी हवा में गूंज रहा है और राज्य सरकार से उनकी यह मांग, कि वह पुनर्वास के लिए प्रति परिवार 5 एकड़ ज़मीन वितरण का काम शुरू करे वरना वह रेल रोको आन्दोलन का आगाज़ करेंगे, अब राज्य तक सीमित नहीं रही है।

अभी ज्यादा दिन नहीं हुए जब रेल रोको आन्दोलन को अमली जामा पहनाने के

कदम को मुलतवी कर दिया गया क्योंकि राज्य सरकार की तरफ इस मसले पर आन्दोलनकारियों के साथ बातचीत चलाने को लेकर सकारात्मक संकेत मिले थे। इस रेल रोको में शामिल होने को लेकर देशभर के अग्रणी राजनीतिक सामाजिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, सांस्कृतिक कर्मियों ने अपनी सहमति दी थी। दरअसल यह रेल रोको 1 अक्तूबर को अहमदाबाद स्थित मणिनगर से शुरू होने वाला था, जो प्रधानमंत्री मोदी का विधानसभा क्षेत्र रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं कि सरकार अगर इस मसले पर टालू रवैया अख्तियार करती है, दलितों के लिए भूमि आवंटन को लेकर उसकी तरफ से कोई ठोस योजना पेश नहीं की जाती तो निश्चित ही यह सुषुप्त आक्रोश फिर फूट पड़ेगा।

निश्चित ही हिंदुत्व बिरादरी के किसी भी कारिन्दे ने या उसके अलमबरदारों ने इस बात की कल्पना तक नहीं की होगी कि उनके 'मॉडल राज्य' (जहां 'आप हिंदु राष्ट्र में प्रवेश कर रहे हैं, ऐसे बोर्ड गांवों-कस्बों में लगने का सिलसिला 90 के दशक के अन्त में ही उरूज पर पहुंचा था) में ही उन्हें ऐसी चुनौती का सामना करना पड़ेगा और जिससे बहुत मेहनत से बनाए सकल हिंदू गठजोड़ की चूलें हिलने लगेंगी। यह उनके आकलन से परे था कि दलित—जो वर्णव्यवस्था में सबसे निचली कतारों में शुमार किए जाते हैं—जिन्हें हिंदुत्व की परियोजना में धीरे-धीरे जोड़ा गया था, यहां तक कि उनका एक तबका 2002 के गुजरात दंगों की अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा में भी शामिल था, वह अलसुबह बगावत में उठ खड़े होंगे और गरिमायम जीवन की मांग करते हुए उन्हें चैलेंज देंगे। इतना ही नहीं वह अल्पसंख्यकों को भी अपने साथ जोड़ेंगे और इस तरह हिंदुत्व की परियोजना की जड़ पर ही चोट पहुंचाएंगे।

जैसा कि इस स्थिति में उम्मीद की जाती है, जब दलितों का यह अप्रत्याशित उभार सामने आया तो उसकी क्या प्रतिक्रिया दी जाए, इसे लेकर वह बाकायदा बदहवासी तथा दिग्भ्रम का शिकार हुए। संघ परिवार के विभिन्न आनुषंगिक संगठनों या चेहरों से जितनी विभिन्न किस्म की आवाजें सुनाई दी, वह इसी का प्रतिबिम्बन था। इसमें कोई दो राय नहीं कि एक साथ कई आवाजों में बोलना हिंदुत्व ब्रिगेड की आम रणनीति का हिस्सा रहा है, मगर इस बार मामला वहीं तक सीमित नहीं था। सबसे बड़ा सवाल उनके सामने यही उपस्थित था कि गाय की रक्षा के नाम पर जो 'परिवार' के एजेण्डे को आगे

बढ़ा रहे थे, ऐसे हमलावरों की हिफाजत करें, और इस तरह पीड़ितों से अपनी दूरी कबूल करें या दूसरी तरफ पीड़ितों की हिमायत करें, हमलावरों की भर्त्सना करें तथा उन पर सख्त कार्रवाई की मांग करें तथा दलितों को अखिल हिंदू एकता सूत्र में बनाए रखने के उद्यम में जुटे रहें। इस विभ्रम का असर उनके द्वारा जारी वक्तव्यों में भी दिखाई दिया जो इस अवसर पर दिए गए। एक तरफ प्रधानमंत्री थे जिन्होंने इस घटना के लम्बे समय बाद अपनी चुप्पी तोड़ी और यहां तक कहा कि गोरक्षा के नाम पर अधिकतर असामाजिक तत्व सक्रिय हैं और बताया कि वह गृह मंत्रालय को सूचित करने वाले हैं कि वह ऐसे तत्वों के बारे में दस्तावेज तैयार करें। (एक क्षेपक के तौर पर यहां सूचित किया जा सकता है कि प्रधानमंत्री के इस वक्तव्य को आधार बना कर तथा चन्द राज्यों द्वारा इस मसले पर बनाए कानूनों को उल्लेखित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की गयी है जिसमें अदालत से यह गुजारिश की गयी है कि गोरक्षा के नाम पर आतंक मचाने वाले समूहों पर वह अंकुश लगाए तथा इनके द्वारा सोशल मीडिया में अपलोड की गयी हिंसक सामग्री को हटा दें। <http://www.thehindu.com/news/national/sc-to-hear-pil-petition-against-cow-vigilantes/article8986706.ece> प्रधानमंत्री मोदी के बरअक्स उनके पूर्वसहयोगी विश्व हिंदू परिषद के लीडर भाई तोगड़िया का रूख था, जिन्होंने गोरक्षकों पर लांछन लगाने की निन्दा की और ऐसी कार्रवाई को 'हिंदू विरोधी' कहा।

यह दिग्भ्रम समझ में आने लायक था। दरअसल, हाल के समयों में यह पहली बार देखने में आया है कि हिंदुत्व ब्रिगेड अगर अपने एक अहम एजेण्डा—जो गाय के इर्दगिर्द सिमटा है और जिसने उसे राजनीतिक विस्तार में काफी मदद पहुंचायी है—को आगे बढ़ाने की कोशिश करती है तो एक संभावना यह बनती है कि हिंदू एकता कायम करने के उसके इरादों में दरारें आती हैं। (सुश्री विद्या सुब्रह्मण्यम ने अपने उत्तर प्रदेश की राजनीति पर केन्द्रित अपने एक आलेख में इस स्थिति का उल्लेख 'ए रिवर्स राम मंदिर मोमेन्ट' के तौर पर किया था—देखें : [http://www.thehindu.com/opinion/lead/its-mayawati-versus-modi-in-up/article9022511.ece?ref=topnavwidget&utm\\_source=topnavdd&utm\\_medium=topnavdropdownwidget&utm\\_campaign=topnavdropdown](http://www.thehindu.com/opinion/lead/its-mayawati-versus-modi-in-up/article9022511.ece?ref=topnavwidget&utm_source=topnavdd&utm_medium=topnavdropdownwidget&utm_campaign=topnavdropdown)

उन्मादी 'गोरक्षकों' के हमलों का शिकार दलितों के अलावा—जो 'परिवार' की राजनीति से ही तौबा कर रहे हैं—किसान आबादी का बड़ा हिस्सा भी गाय के इर्दगिर्द हो रही हिंदुत्व की राजनीति से परेशान है क्योंकि वह अपने उन पशुओं को बेच पाने में असमर्थ है या उसे उन्हें बहुत कम कीमत पर बेचना पड़ रहा है - जो बूढ़े हो चुके हैं या जिन्होंने दूध देना बन्द कर दिया है। इतना ही नहीं मीट के व्यापार में लगे पंजाब के व्यापारियों ने पिछले दिनों प्रेस कॉन्फ्रेंस कर इन स्वयंभू गोरक्षकों की हिंसक कार्रवाइयों से अपने व्यवसाय में उन्हें उठाने पड़ रहे नुकसान को रेखांकित करते हुए प्रेस सम्मेलन किया।

कहां धार्मिक हिंदू गाय की पूँछ के सहारे वैतरणी पार करने की बात करता है और अब यह आलम सामने नमूदार था कि गाय की पूँछ ही उनके गले का फंदा बनती दिख रही थी। हिंदुत्व की मौजूदा स्थिति को सन्त तुलसीदास की चौपाई बखूबी बयां करती है 'भयल गति सांप छछुंदर जैसी...'



2.

**राष्ट्रवादी तो हमारे साथ हैं,**

**हमें दलित और पिछड़े को साथ लाना है**

हर कोई जानता है कि गोरक्षा के नाम पर हिंदुत्व के अतिवादियों द्वारा जो कार्रवाईयां होती रही हैं, जिसमें कुछ भी 'अटपटा' नहीं था, यहां तक कि मरी हुई गाय की खाल उतार रहे मोटा समधियाला गांव के दलितों को जिस तरह सरेआम पीटा गया और उसका वीडियो बना कर सोशल मीडिया पर शेयर किया गया, वह भी पहली बार नहीं हो रहा था।

हम याद कर सकते हैं ऐसे हमलों को जब भाजपा खुद केन्द्र में अपने बलबूते सत्ता में नहीं थी, उसे सहयोगी दलों के सहारे सरकार चलानी पड़ रही थी। इस मामले में क्लासिक उदाहरण दुलीना (झज्जर) का है—जो जगह राष्ट्रीय राजधानी से बमुश्किल पचास किलोमीटर की दूरी पर स्थित है—जहां इसी तरह मरी हुई गाय की खाल निकाल रहे पांच दलितों को गोरक्षा के नाम पर जुटी उन्मादी भीड़ ने दुलीना पुलिस स्टेशन के सामने पीट-पीट कर मार डाला था, जब इलाके के अग्रणी पुलिस एवं प्रशासकीय अफसर वहां मूकदर्शक बने थे। (2003) इस बर्बर घटना को लेकर एक अग्रणी हिंदुत्ववादी नेता ने (जिनका कुछ समय पहले इन्तकाल हुआ) एक विवादास्पद बयान देते हुए इसे औचित्य प्रदान किया था, उन्होंने कहा था कि 'पुराणों में इन्सान से ज्यादा गाय को मूल्यवान समझा जाता रहा है।' इन हत्याओं से आक्रोश अवश्य पैदा हुआ था, कुछ हमलावरों की गिरफ्तारियां भी हुई थीं, मगर जल्द ही वह मामला भुला दिया गया था। हमलावरों को जब जमानत मिली थी तब 'गोरक्षा के महान काम' के लिए उनका जबरदस्त स्वागत हुआ था।

दरअसल, हाल के वक्त में हुए ऐसे तमाम हमले अधिक बर्बर रहे हैं, फिर वह चाहे लातेहार, झारखण्ड के पास दो मुस्लिम युवा व्यापारियों की गोरक्षक समूह द्वारा पीट-पीट कर की गयी हत्या हो; या उधमपुर के पास ट्रक में सो रहे एक युवा को ऐसे ही अतिवादी समूहों द्वारा पेट्रोल बम डाल कर जला डालने का मामला हो; या पलवल, हरियाणा में मीट ले जा रहे ट्रक पर गोरक्षक समूहों द्वारा किया गया हमला हो तथा साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति का निर्माण हो या गुड़गांव के पास दो ट्रांसपोर्टर्स को गोमूत्र मिला कर गोबर खिलाने का मामला हो क्योंकि वह मवेशियों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जा रहे थे, इन हमलावरों का हौसला इस कदर बढ़ गया है कि वह न केवल हथियारों से लैस अपनी तस्वीरों को बाकायदा सोशल मीडिया पर प्रदर्शित करते हैं, यहां तक कि निरपराध लोगों पर किए जा रहे इन हमलों के भी वीडियो बना कर इंटरनेट पर डाल देते हैं और जहां तक कानून एवं व्यवस्था के रखवालों का सवाल है तो वह मूकदर्शक बने रहते हैं और कभी-कभी पीड़ितों को ही 'गोरक्षा' के नाम पर बने कानूनों के प्रावधानों के तहत जेल भेज देते हैं। गोरक्षा के नाम पर कानून को हाथ में लेने की मिली छूट का ही नतीजा रहा है कि कर्नाटक में इन समूहों ने प्रवीण पुजारी नामक भाजपा से जुड़े ट्रांसपोर्टर को भी पीट-पीट कर मार डाला, जबकि वह उन आततायियों के सामने गुजारिश करता रह गया कि उसका काम महज ढोना है, पशुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना है।

उना को लेकर जब सूबे में तथा शेष भारत में सरगर्मियां तेज थीं, उन दिनों इस मसले पर बात करते हुए गुजरात सरकार के चीफ सेक्रेटरी जनाब जी. आर. ग्लोरिया ने गोरक्षा के नाम पर चल रही गुंडागर्दी को बाकायदा रेखांकित किया। उन्होंने बताया कि समूचे गुजरात में दो सौ से ज्यादा ऐसे गोरक्षा समूह उभरे हैं जो 'अपने आक्रमण के चलते तथा जिस तरह वह कानून को अपने हाथ में लेते हैं उसके चलते कानून और व्यवस्था का मसला बने हैं।' उन्होंने यह भी जोड़ा कि ऐसे समूहों के खिलाफ हम सख्त कार्रवाई करने वाले हैं क्योंकि भले ही यह 'स्वयंभू गोभक्त हों मगर वास्तव में गुंडे हैं।' (देखें, द हिंदू, 22 जुलाई 2016) शहर से गांव तक फैले उनके नेटवर्क तथा स्थानीय पुलिस के साथ उनकी संलिप्तता आदि बातों को भी उन्होंने रेखांकित किया।

ध्यान रहे कि यह पहली दफा नहीं है जब गोरक्षा के नाम पर बढ़ रही

असामाजिक गतिविधियों की तरफ संवैधानिक संस्थाओं या उनके प्रतिनिधियों की तरफसे ध्यान खींचा गया हो। अभी ज्यादा दिन नहीं हुए जब पंजाब हरियाणा उच्च अदालत ने भी इसी बात को रेखांकित किया। अदालत का कहना था कि “गोरक्षा की दुहाई देते हुए बने हुए कथित प्रहरी समूह जिनका गठन राजनीतिक आकाओं एवं राज्य के वरिष्ठ प्रतिनिधियों की शह पर हो रहा है, जिनमें पुलिस भी शामिल है, वह कानून को अपने हाथ में लेते दिख रहे हैं।” (<http://timesofindia.indiatimes.com/city/chandigarh/Cow-vigilante-groups-bent-on-circumventing-law-HC/articleshow/52197819.cms>)

सोचने का मसला यह है कि स्वयंभू गोरक्षकों द्वारा ‘जब्त’ की जाने वाली गायें कहां जाती हैं ?

राजस्थान पर केन्द्रित द हिंदू की रिपोर्ट के मुताबिक सूबे में कहीं भी छापा डाल कर गायों को जब्त करने वाले इन स्वयंभू गोभक्तों को इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि जिन गायों को वह उनके मालिकों से स्मगलिंग के नाम पर ‘बरामद’ कर रहे हैं, उन्हें कहां भेजा जाएगा, क्या उनके रहने खाने का इन्तजाम भी है या नहीं।

उदाहरण के तौर पर जयपुर म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन के तत्वावधान में संचालित हिंगोनिया गोशाला को देखें—जहां नौ हजार से अधिक गायें रखी गयी हैं—आए दिन लगभग 30 से 40 गायें मर रही हैं, मगर उनका कोई पुरसाहाल नहीं है। न खाने पीने के सही साधन हैं और न बीमार गायों के इलाज का कोई ठीक उपाय; लिहाजा, 200 से अधिक कर्मचारियों वाली इस गोशाला में गायों की मौतों पर काबू नहीं हो पा रहा है। (देखें, द हिंदू, 7 दिसम्बर 2015) वैसे अप्रैल माह में जब देश के एक अन्य अग्रणी अखबार ने इसी मसले पर स्टोरी की थी तब बताया था अकेले जयपुर शहर में हर रोज 90 गायें मर रही हैं, और चूंकि यह महानगर पालिका द्वारा संचालित गोशाला है तो उनकी लाशें यहीं हिंगोनिया भेजी जाती हैं। हिंगोनिया में रोज दसियों गायें दम तोड़

रही हैं, उन्हें इस बात के प्रति कोई सरोकार नहीं है कि उसके लिए संसाधन जुटा दें, हां, समय-समय पर इन 'जब्त' गायों को वह उसी गोशाला में पहुंचा देते हैं, जो पहले से ही खराब हालत में चल रहा है।

यह अलग बात है कि मोटा समधियाला गांव में स्वयंभू गोरक्षकों द्वारा जिस हमले को अंजाम दिया गया और अपनी 'बहादुरी' का जो वीडियो सोशल मीडिया पर शेयर किया गया, वह एक टर्निंग प्वाइंट साबित हुआ।

उना के बहाने उठे दलित विद्रोह से दरअसल नफरत एवं असमावेश पर टिकी हिंदुत्व की राजनीति का एक ऐसा रहस्य उजागर हुआ है, जिसे उसने बहुत मेहनत से 'छिपा कर' रखा था। मालूम हो कि अब एक साधारण व्यक्ति के लिए भी यह स्पष्ट हो चला है कि हिंदुत्व—अपनी समरसता की जितनी भी बात करे—उसके लिए, दलित और अन्य हाशियाकृत तबके मनुष्य से कम दर्जे पर स्थित हैं; जो एक तरह से उसके मनुवादी चिन्तन का ही विस्तार है। (एक क्षेपक के तौर पर यहां बताना समीचीन होगा कि आज़ादी के बाद जब संविधान निर्माण की प्रक्रिया चली थी तब उन दिनों न केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने बल्कि हिंदुत्व की राजनीति के पायोनियर कहे जाने वाले सावरकर ने उसका विरोध किया था और तर्क यह दिया था कि नए संविधान की जरूरत क्या है—हमारे पास मनुस्मृति है ना !)

अब यह एहसास गहरा रहा है कि हिंदुत्व राजनीति की औपचारिक भंगिमाएं जो भी हों, जहां उसे धार्मिक कल्पितों (Religious Imaginaries) के विमर्श में प्रस्तुत किया जाता है—जहां अल्पसंख्यक, फिर भले वह मुसलमान हों या ईसाई हों—उन्हें 'अन्य' के तौर पर पेश किया जाता है, मगर सारत 'हिंदू राष्ट्र का विचार वर्चस्व एवं समरूपीकरण की ब्राह्मणवादी परियोजना को ही वैधता प्रदान करता है। और ऐसे प्रोजेक्ट में दलितों के दोयम दर्जे पर तो धार्मिक मुहर भी लगी होती है। समरसता का गुणगान करने वाले हिंदुत्व के कर्णधारों की निगाह में दलितों एवं पिछड़ों की वास्तविक स्थिति क्या है इसे समझना हो तो हम जनाब मोदी की अपने पार्टी के चार सौ अग्रणी नेताओं के साथ चली बातचीत पर निगाह डाल सकते हैं। अखबारी रिपोर्टों में कहा गया कि उन्होंने यह कहा कि पार्टी को राष्ट्रवाद की बात करनी चाहिए जो 'भाजपा की विचारधारा के केन्द्र में है', मगर उनकी सबसे रेखांकित

करने वाली बात थी 'राष्ट्रवादी तो हमारे साथ हैं, हमें दलितों और पिछड़े को साथ लाना है।' (<http://indianexpress.com/article/india/india-news-india/nationalists-are-with-us-lets-reach-out-to-dalits-backwards-pm-modi-to-party-2993281/>)

क्या इसे महज जुबान फिसलना कहा जा सकता है या इस सच्चाई को अनजाने में कबूल करना कि हिंदुत्व की निगाह में राष्ट्र पर महज ऊंची जातियों का दावा बनता है और दलितों तथा पिछड़ों को—जो उसके दायरे के बाहर हैं—उन्हें इसमें शामिल करना पड़ता है। (<http://scroll.in/article/814769/the-daily-fix-what-did-modi-mean-when-he-said-there-is-a-chasm-between-dalits-and-nationalists>)

दलितों के महज वोटों की चिन्ता, मगर उनके वास्तविक दुख दर्दों से, परेशानी से बेरुखी और उन पर हो रहे अत्याचारों के प्रति तिरस्कार की भावना (फिलवक्त हम उन बॉलीवुड मार्का डायलॉग की बात न करें तो अच्छा 'तुम मुझे गोली मार दो, मगर मेरे दलित भाईयों को छोड़ दो') इस बात में भी प्रगट होती है कि जब दलित विद्रोह अपने चरम पर था, तब तेलंगाना राज्य के भाजपा विधायक द्वारा दलितों को पीटे जाने की घटना को 'उचित' ठहराने वाले बयान पर कार्रवाई करने की भी जरूरत भाजपा नेतृत्व ने महसूस नहीं की। उपरोक्त विधायक ने इस सम्बन्ध में एक वीडियो बना कर अपने फेसबुक पर शेयर किया था, उसके शब्द थे 'जो दलित गाय के मांस को ले जा रहा था, जो उसकी पिटाई हुई है, वह बहुत अच्छी हुई है।' (<http://scroll.in/latest/812903/anyone-who-kills-cows-deserves-to-be-beaten-says-bjp-mla-raja-singh>).

### इतिहास में गाय

अगर यह प्रश्न पूछा जाये कि क्या हिंदुओं ने कभी गोमांस खाया तो हर स्पृश्य हिंदू—भले वह ब्राह्मण हो या गैरब्राह्मण—यही कहेगा 'कभी नहीं'। एक तरह से देखें तो, वह सही हैं। लम्बे समय से हिंदुओं ने गोमांस नहीं खाया है। अगर स्पृश्य हिंदू इस जवाब से यही सम्प्रेषित करना चाह रहा है तब इसमें कोई विवाद की जरूरत नहीं है। इसके बजाय अगर शिक्षित हिंदू यही तर्क

देने लगे कि न केवल हिंदुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया बल्कि वह हमेशा से गाय को पवित्र मानते थे और गोहत्या का उन्होंने हमेशा विरोध किया है, तब इस बात को स्वीकारना असम्भव है।

डॉ. अम्बेडकर/1/

(1. 'Did the Hindus never eat beef?' in *The Untouchables: Who Were They and Why They Became Untouchables?* in Dr. Babasaheb Ambedkar Writings and Speeches, vol. 7, (Government of Maharashtra, Bombay, 1990, first edition 1948) pp. 323-328.) <http://www.countercurrents.org/ambekar050315.htm>)

“क्या हिंदुओं ने कभी गोमांस नहीं खाया ?” डॉ. अम्बेडकर ने इस विशिष्ट मसले पर समग्रता में गौर किया है और उसे भारत में ‘अछूत’ जातियों के उद्गम के साथ भी जोड़ने की कोशिश की है।

एक ऐसे वक्त में जब केसरिया पलटन अम्बेडकर को अपने में समाहित करने के लिए बुरी तरह आमामादा हो—जिन्होंने अपने अनुयायियों को बार-बार हिंदू राज के खतरे के प्रति आगाह किया था और ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद जैसे दो दुश्मनों के खिलाफ संघर्ष जारी रखने के लिए आह्वान किया था—और उन्हें एक ऐसे शख्स के तौर पर प्रस्तुत कर रही हो जिसने न केवल हिंदुत्व प्रोजेक्ट की हिमायत की बल्कि हिंदू धर्म में पवित्र माने जाने के नाम पर गोमांस भक्षण का विरोध किया था, तब यह बहुत मौजूं होगा कि हम उनके सामने इस सवाल को नए सिरे से पेश करें।

जहां तक सम्भावना है आप का सामना एक विराट मौन से होगा या मुमकिन है आप के इस असुविधाजनक प्रश्न को ‘बहा’ देने के लिए हिंदुत्व का कारिन्दा अचानक फूट पड़े और आप को भला बुरा कहने लगे। प्रतिक्रिया जैसी भी हो वह इसी बात की ताईद करती है कि दरअसल वे जानते हैं कि इस मुद्दे पर बहस में उतरना गोया भानुमती का पिटारा खोल देना होगा और उन्होंने अपनी जो

पूरी सियासत 'हम' और 'वे' के इर्दगिर्द खड़ी की है—जो भारतीय समाज की तमाम बीमारियों के लिए 'बाहरी' लोगों को खासकर इस्लाम या मुसलमान शासकों को जिम्मेदार ठहराती है—उसमें अपने हाथों सेंध लगा देना है। वह इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि हिंदुत्व के फलसफे और अम्बेडकर चिन्तन में गुणात्मक अंतर है।

दोनों नज़रियों में पूरे अन्तराल को मद्देनज़र रखते हुए और दलित अवाम को हिंदू एकत्रीकरण की अपनी परियोजना में शामिल करने की निगाह से, दरअसल केसरिया पलटन ने एक सोची समझी रणनीति बनायी है। उन्होंने अम्बेडकर की एक ऐसी साफ-सुथराकृत छवि को गढ़ा है, जो उनके रैडिकल विचारों से तौबा करती हो और जिसे उन्होंने अपने अग्रणी नेताओं—हेडगेवार, सावरकर, गोलवलकर आदि के साथ—प्रातःस्मरणीयों में शामिल किया है। इतना ही नहीं अपने लेखन एवं वक्तव्यों के जरिए उन्होंने हिंदू धर्म की जो तीखी भर्त्सना की, उसे बार-बार आलोचना के केन्द्र में रखा, इतना ही नहीं तीस के दशक में बाकायदा ऐलान कर कि 'मैं हिंदू के तौर पर भले पैदा हुआ हूंगा, मगर हिंदू के तौर पर मरूंगा नहीं' उस पर अपनी मौत के कुछ समय पहले बाकायदा अमल किया, इन तमाम बातों को किनारे रखते हुए वह इसी कवायद में मुब्तिला है कि यह साबित करें कि डॉ. अम्बेडकर 'हिंदू समाज सुधारक' थे। इसके पीछे उनका मंतव्य स्पष्ट है, वह दलित जनता को गुमराह करना चाहते हैं।

दिलचस्प है कि ऐसे नेताओं को लेकर जो हिंदू राष्ट्र की परियोजना के प्रति बहुत अनुकूल राय नहीं रखते हैं, उनके बारे में प्रयुक्त चुनिन्दा स्मृतिलोप की यह रणनीति ऐसे नेताओं तक भी विस्तारित होती दिखती है, जिन्हें वह व्यापक हिंदू परिवार का हिस्सा मानता रहा है। अगर हम विवेकानन्द को ही देखें जो हिंदुत्व परिवार के दायरे में हमेशा ही महिमामंडित किए जाते हैं, एक दिन भी ऐसा नहीं गुजरता तब यह देखते हैं कि उनकी विरासत पर अपना दांवा ठोंकने में संघ या उसके आनुषंगिक संगठन आगे नहीं रहते हैं। जहां संघ अतीत के पन्ने पलटने या उसकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा करने से बचता रहता है, वहीं हम पाते हैं कि विवेकानन्द ऐसा कोई संकोच नहीं करते। हम यह भी देखते हैं कि गोमांस भक्षण को लेकर संघ का चिन्तन विवेकानन्द से भी अलग है।

अपनी अमेरिका की यात्रा मे कैलिफोर्निया के पासाडेना में शेक्सपीयर क्लब में एक बड़े जनसमूह को 'बौद्ध भारत' विषय पर सम्बोधित करते हुए (2 फरवरी 1900) उन्होंने कहा :

आप को यह जानकर आश्चर्य होगा अगर मैं आप को बताऊं कि पुराने समारोहों के हिसाब से वह अच्छा हिंदू नहीं माना जाता था जो गोमांस नहीं खाता था। कुछ मौकों पर उसके लिए यह अनिवार्य था कि बैल की बलि दे और उसका भक्षण करे। (Swami Vivekananda, The Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 3, Calcutta: Advaita Ashram, 1997, p. 536.)

अपने एक आलेख 'बीफ पिंक रेवोल्यूशन एण्ड आइडेंटिटी पालिटिक्स' में (<http://www.carvaka4india.com/2014/05/beef-pink-revolution-and-identity.html>) राम पुनियानी बताते हैं कि उनके इस कथन की पुष्टि स्वामी विवेकानन्द द्वारा गठित रामकृष्ण आश्रम द्वारा प्रायोजित अन्य रिसर्च में होती है :

“वैदिक आर्य, जिनमें ब्राह्मण भी शामिल थे, मछली, मांस यहां तक कि गोमांस भी खाते थे। एक विशेष अतिथि को गोमांस से बने पकवान से सजी थाली परोसी जाती थी। हालांकि वैदिक आर्य गोमांस खाते थे, दुधारू गायों को नहीं मारा जाता था। गाय के लिए एक शब्द इस्तेमाल होता था अध्न अर्थात जिसे नहीं मारा जाएगा। मगर मेहमान के लिए एक शब्द था 'गोघ्न' अर्थात ऐसा व्यक्ति जिसके लिए गाय को मारा जाएगा। बैल, बंजर गायें या बछड़ों को ही मारा जाता था।/4/

'हिंदुत्व' की संकल्पना के प्रणेता सावरकर दरअसल इस मामले में अधिक साफगोई के साथ बोलते हैं, जहां वह कहते हैं कि 'गाय न कोई ईश्वर है और न ही मां बल्कि एक उपयुक्त पशु है। हमें उसकी पूजा नहीं करनी चाहिए बल्कि उसे अच्छी तरह पालना-पोसना चाहिए ताकि उससे हम पूरी तरह लाभान्वित हो सकें। (Savarkar, Vinayak Damodar. *Samagra Savarkar Vangmaya*,



Vol. VI, p. 107. 37 Savarkar, Vinayak Damodar. *Samagra Savarkar Vangmaya*, Vol. VI, p. 37) अपनी मराठी किताब 'क्ष किरणें' में बताते हैं कि 'वेदों में भी कहीं-कहीं गोहत्या का जिक्र मिलता है ('...गोमधही वेदादिकांत तुरलकपणे उल्लेखिले आहेत', क्ष किरणें, सावरकर, पेज 16) गौरतलब है कि वह भी उसके 'नष्ट' करने की बात करते हैं जब वह 'सम्पोषण के लायक नहीं रहती है।'

‘गाय और बैल जैसे जानवर और पीपल और बरगद जैसे पेड़ लोगों के लिए उपयोगी होते हैं, इस वजह से हमें वह अच्छे लगते हैं; उस हद तक हम उन्हें पूजा लायक भी समझ सकते हैं ...क्या इससे यह बात नहीं निकलती कि कुछ खास परिस्थितियों में, जबकि वह जानवर या पेड़ मानवता के लिए मुसीबत का सबब बन जाये, सम्पोषण या संरक्षण के लायक नहीं रहे और उस वजह से उसका विनाश मानवीय और राष्ट्रीय हितों में जरूरी हो और वहीं मानवीय या राष्ट्रीय धर्म बने ? (Veer Savarkar *Samaj Chitre or portraits of society*, Samagra Savarkar vangmaya, Vol. 2, p.678, <http://www.savarkar.org/en/rationalism/cow-protection-and-cow-worship>))

यह खुली सच्चाई है कि केसरिया पलटन के लोग विवेकानन्द, सावरकर का गुणगान भले करें मगर उनके ऐसे 'विस्फोटक' लगने वाले विचारों को लेकर मौन बरतना ही मुनासिब समझते हैं।

3.

## गुजरात मॉडल की

### बेपर्द होती असलियत

उना के बहाने खड़े आन्दोलन के उरूज के दिनों में जिग्नेश मेवानी, जो 'उना दलित अत्याचार लड़त समिति' के कन्वेनर है, जो दलितों के इस ऐतिहासिक उभार की अगुआई कर रहा है, वह राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में थे ताकि व्यापक लोगों के सामने आन्दोलन के सन्देश को सांझा किया जा सके और लड़त समिति के आगे के कार्यक्रम के प्रति लोगों का समर्थन जुटाया जा सके। अपने व्याख्यान में उन्होंने दलितों के इस संकल्प को रेखांकित किया कि अब वह दूसरों की गन्दगी, मल नहीं उठाएंगे और न ही मरे हुए पशुओं को उठाएंगे। उन्होंने बताया कि किस तरह अहमदाबाद की 31 जुलाई की रैली में बीस हजार से अधिक दलित जुटे थे और उन्होंने अब यह शपथ ली है कि आइन्दा वह उन कामों को नहीं करेंगे जो वर्णव्यवस्था ने उन्हें सौंपे हैं और जिसकी वजह से उन्हें लांछन झेलना पड़ता है। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा :

‘हम दलित अब दूसरों की गंदगी साफ नहीं करने वाले हैं।  
मोदीजी, अब आप का स्वागत है मल उठाने में आध्यात्मिकता  
का अनुभव करने के लिए।

([http://www.telegraphindia.com/1160821/jsp/  
frontpage/story\\_103638.jsp#.V74anP197IU](http://www.telegraphindia.com/1160821/jsp/frontpage/story_103638.jsp#.V74anP197IU))

एक्टिविस्ट और वकील जिग्नेश अपनी इस बात के जरिए 'कर्मयोग' नाम से

संकलित मोदी के भाषणों के संकलन का उल्लेख कर रहे थे, जो भाषण उन्होंने प्रशिक्षु आईएएस अधिकारियों के सामने दिए थे तथा जिन्हें गुजरात की एक सार्वजनिक उद्यम ने छपा था, जिसमें उन्होंने कहा था कि सफाई अर्थात् मल उठाने का काम वाल्मीकियों के लिए 'आध्यात्मिकता का अनुभव' प्रदान करता है। (See : <https://kafila.org/2014/02/12/modi-and-the-art-of-disappearing-of-untouchability/>) एक क्षेपक के तौर पर बताया जा सकता है कि किताब में मोदी लिखते हैं :

“मैं नहीं मानता कि वे (सफाई कामगार) इस काम को महज जीवनयापन के लिए कर रहे हैं। अगर ऐसा होता तो उन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी इस काम को नहीं किया होता ...किसी वक्त उन्हें यह प्रबोधन हुआ होगा कि वाल्मीकि समुदाय का काम है कि समूचे समाज की खुशी के लिए काम करना, इस काम को उन्हें भगवान ने सौंपा है; और सफाई का यह काम आन्तरिक आध्यात्मिक गतिविधि के तौर पर जारी रहना चाहिए। इस बात पर यकीन नहीं किया जा सकता कि उनके पूर्वजों के पास अन्य कोई उद्यम करने का विकल्प नहीं रहा होगा।” (पेज 48-49)

आन्दोलन की विकासयात्रा की चर्चा करते हुए तथा इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कि आखिर गाय के नाम पर आतंक मचाने वाले हिंदुत्ववादी संगठनों के कार्यकर्ताओं द्वारा दलितों को पीटे जाने की घटना ने आखिर विद्रोह का रूप कैसे धारण किया, जिग्नेश मेवानी ने गुजरात मॉडल के तहत दलितों को झेलने पड़ रहे वंचना और भेदभाव से जुड़ी तमाम बातें रखीं। उनके मुताबिक

- गुजरात में दलितों पर अत्याचार की हजारों घटनाएं हर साल होती हैं
- जनाब मोदी के मुख्यमंत्री पद के दिनों में (2001 से 2014) अत्याचारों की घटनाओं में बढ़ोत्तरी जारी रही
- गुजरात में 55,000 से अधिक दलित हैं जो आज भी मल उठाने के काम में लगे हैं
- एक लाख से अधिक सैनिटेशन/सफाई कर्मचारी हैं जिन्हें न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलती

- 119 गांव के दलितों को दबंग जातियों के अत्याचारों से बचने के लिए पुलिस सुरक्षा में रहना पड़ता है
- दलितों पर अत्याचार में दोषसिद्धी की दर महज तीन फीसदी है।

उनके मुताबिक दलितों पर होने वाले अत्याचारों के मामलों में न्याय से इन्कार का हाल का उदाहरण है थानगढ़ में तीन दलितों का हत्याकाण्ड, जब दलितों को 'एके 47 राइफलों से भून दिया गया था' जिन दिनों मुख्यमंत्री पद खुद मोदी संभाले हुए थे। गौरतलब था कि इस हत्याकाण्ड में न्याय दिलाने को लेकर एक लाख से अधिक दलितों तथा अन्य मित्र शक्तियों ने प्रदर्शन किया, मगर सरकार की तरफ से अभियुक्त पुलिसकर्मी के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई। (अब जब गुजरात के दलित विद्रोह के रास्ते पर हैं तो सुनने में आया है कि इन हत्याओं की जांच के लिए गुजरात सरकार ने स्पेशल इन्वेस्टिगेशन टीम के गठन का निर्णय लिया है और उसने पीड़ित परिवारों के लिए मुआवजे की राशि भी बढ़ा दी है।)

जब श्रोता समूह में से किसी ने यह सवाल उठाया कि अगर आप दलितों के लिए ज़मीन की मांग कर रहे हैं तो क्या राज्य में इतनी ज़मीन उपलब्ध है तब जिग्नेश ने विभिन्न योजनाओं के तहत वंचित तबकों के लिए उपलब्ध ज़मीन का विवरण पेश किया और बताया कि किस तरह वर्चस्वशाली जातियां जगह-जगह अनुसूचित तबकों के लिए लक्षित ज़मीनों पर कब्जा किए हुए हैं। जिग्नेश के मुताबिक भूदान आन्दोलन के दौरान सरकार को जो हजारों एकड़ ज़मीन मिली थी वह भी अभी तक वितरित नहीं की गयी है। उन्होंने एससी-एसटी सबप्लान के तहत पहले से मौजूद उस प्रावधान की भी चर्चा की कि 'अगर ज़मीन उपलब्ध न हो तो ज़मीन खरीद कर भी उन्हें दी जा सकती है।' उनका आसान सवाल था, जो समूचे श्रोता समूह को सोचने के लिए मजबूर किया कि 'आखिर विकास के नाम पर अगर हजारों एकड़ ज़मीन अंबानियों, अडानियों और टाटा को वितरित की जा सकती है तो फिर दलितों को उनके न्यायपूर्ण अधिकार से किस तरह वंचित किया जा सकता है।' जिग्नेश ने भूमि अधिग्रहण कानून के सन्दर्भ में राज्य सरकार द्वारा अंजाम दिए गए उन 'दमनकारी' तथा 'गैर-लोकतांत्रिक' प्रावधानों की भी चर्चा की जिसके अन्तर्गत 'सहमति' के प्रावधान को हटा दिया गया है— जिसका मतलब यही होगा कि अगर सरकार 'विकास' के नाम पर कॉर्पोरेट

समूहों को ज़मीन देना चाहें तो वह किसानों की ज़मीन 'पब्लिक गुड्स' अर्थात् जनकल्याण के लिए हस्तगत कर सकती है और कुछ प्रतीकात्मक मुआवजा देकर मामले को समाप्त मान सकती है।

अन्य सवाल यह उठा कि दलित अगर अपने 'पारम्पारिक पेशों' को छोड़ देंगे जो उन्हें 'आर्थिक सुरक्षा' प्रदान कर सकता है, तब जिग्नेश ने डॉ. अंबेडकर को उद्धृत किया जिन्होंने ऐतिहासिक महाड़ सत्याग्रह के दिनों में (1927) दलितों का आह्वान किया था कि वह 'लांछन लगे इन पेशों को छोड़ दें मगर गरिमामय जीवन हासिल करने से समझौता न करें, भले ही इसके लिए उन्हें 'भूख से मरने' के लिए तैयार रहना पड़े।

### **गुजरात माडल : दलित, आदिवासी और अन्य पिछड़ा वर्ग के भूमिहीनों को अतिरिक्त ज़मीन से इन्कार, पटेलों को "मिली" 12 लाख एकड़ ज़मीन**

...गुजरात में भूमिहीनों को अतिरिक्त ज़मीन बांटने के मामले में—जिसे 1960 के गुजरात एग्रीकल्चरल लैंड सीलिंग एक्ट के तहत जमींदारों से हासिल किया गया था—बहुत नाममात्र की प्रगति हुई है, इसके बारे में नए तथ्य सामने आए हैं। सूचना अधिकार कानून के तहत डाले गए आवेदनों के आधार पर, जूनागढ़ के भूमि रेकॉर्ड जिला रजिस्ट्रार ने इस बात को स्वीकारा है कि 16 में से 11 गांवों को लेकर, जिनके बारे में सूचनाएं मांगी गयी थीं, 'वहां अतिरिक्त ज़मीन को लेकर विगत 24 सालों में कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया', इसलिए वहां कोई ज़मीन आवंटित नहीं की गयी।

एक अन्य मामले में, नवसारी जिले में, गुजरात सरकार ने 2006 और 2008 के दरमियान, जबकि मोदी राज्य के मुख्यमंत्री थे, उसने 7,542 भूमिहीनों को ज़मीन 'आवंटित' की, मगर एक साल बाद उसने खुद स्वीकारा कि इनमें से 3,616 लोगों को अभी भूमि सम्बन्धी कागजात दिए जाने हैं। "हालांकि, अब

सूचना अधिकार के तहत डाली गयी याचिका के आधार पर, हम जानते हैं कि 2015 में भी चीजें बदली नहीं थीं।

‘दलित अधिकार’ नामक गुजराती पत्रिका में लिखे एक आलेख में जिग्नेश मेवानी कहते हैं कि “हमारे पास प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि गुजरात सरकार ने गुजरात एग्रीकल्चरल लैंड सीलिंग एक्ट, 1960 के अन्तर्गत 1,63,808 एकड़ ज़मीन हासिल की और हमारा यह मानना है कि उनमें से अधिकतर महज कागज़ पर ही भूमिहीनों को बांटी गयी। भूमिहीन, मुख्यतः दलित, आदिवासी और अन्य पिछड़ा वर्ग से जुड़े लोगों को अभी भी ज़मीन पर वास्तविक हक नहीं मिल सका है।”

मेवानी लिखते हैं, “ज़मीन जोतने वाले की हो इस कानून का सबसे अधिक फायदा ऊंची जाति के पटेलों को हुआ है। लगभग 55 हजार पटेलों को 12 लाख एकड़ ज़मीन बांटी गयी, जो गुजरात के सौराष्ट्र और कच्छ इलाकों में अतिरिक्त घोषित की गयी थी। लेकिन जहां तक दलित भूमिहीन कृषकों का ताल्लुक है, उन्हें 12 इंच तक ज़मीन नहीं मिली। एक बेहद छोटा तबका, जो सत्ताधारी तबकों के करीब है, उसे ही लाभ हुआ है।”

मेवानी के मुताबिक “आइए गुजरात सरकार के गुड गवर्नंस का एक नमूना देखते हैं। हम लोगों ने अलग-अलग गांवों में आवंटित 6,500 एकड़ ज़मीन के बारे में तथ्य जानने के लिए 2011 से 2015 के दरमियान सूचना अधिकार कानून के तहत 65 आवेदन डाले। इसके बावजूद अधिकारी इस भूमिसंबंधी कागज़ातों की कापी देने से इन्कार कर रहे हैं जो दिखा सकें कि ज़मीन वास्तविक तौर पर भूमिहीनों को मिली।”

गुजरात स्थित मानवाधिकार संगठन ‘जनसंघर्ष मंच’ से सम्बद्ध मेवानी कहते हैं “कुल 1,63,808 एकड़ अतिरिक्त ज़मीन में से,

लगभग 70 हजार एकड़ ज़मीन रेवेन्यू ट्रिब्यूनल, गुजरात उच्च अदालत और सर्वोच्च न्यायालय के साथ विवादों में अटकी है। अब इस ज़मीन का आवंटन नहीं किया जा सकता, मगर इस बात का जवाब तो ढूंढना ही पड़ेगा कि आखिर बाकी ज़मीन का आवंटन क्यों नहीं हुआ।”

दरअसल मेवानी यह कहते हैं कि अतिरिक्त ज़मीन में से 15,519 एकड़ ज़मीन ऐसी है जिस पर कोई विवाद नहीं है’ इसके बावजूद गुजरात सरकार ‘इस पर कार्रवाई करने से इन्कार कर रही है।’... (<http://www.milligazette.com/news/13251-gujarat-model-dalit-tribal-obc-landless-denied-surplus-land-patels-received-12-lakh-acres>)

दलितों के साथ न्याय से लगातार इन्कार और सरकारी दावों और ज़मीनी स्तर की हकीकत के अंतराल की बातें राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की पहले की रिपोर्टों में भी पुष्ट होती हैं। अगर हम वर्ष 2009 की रिपोर्ट पर सरसरी निगाह डालें तो पता चलता है कि देश में मानवाधिकार उल्लंघन के सामने आए 94,559 मामलों में से 3,813 मामले गुजरात से थे और इस तरह मानवाधिकार उल्लंघन के मामलों में गुजरात उत्तर प्रदेश और दिल्ली के बाद पूरे देश में तीसरे नम्बर पर था। (Indian Express, 20 th March 2009)

अगर हम राज्य के सामाजिक न्याय विभाग द्वारा राज्य के मुख्य सचिव और कानूनी महकमे को सौंपी गयी 23 पेजी गोपनीय रिपोर्ट को देखें तो वह ‘प्रीवेन्शन ऑफ एट्रासिटीज एक्ट अगेन्स्ट एससी/एसटी के मातहत दर्ज मामलों को लेकर गड़बड़झाले की ओर इशारा करती है। (एक्सप्रेस, 15 सितम्बर 2006) प्रीवेन्शन ऑफ एट्रासिटीज एक्ट के तहत दोषसिद्धि की दर महज 2.5 फीसदी है जबकि बेगुनाह साबित होने का प्रतिशत 97.5 फीसदी है।

इस रिपोर्ट में इस बात का विवरण पेश किया गया है कि किस तरह इस अधिनियम के तहत दर्ज मामलों की जांच पुलिस ठीक से नहीं करती और मुकदमे की कार्रवाई के दौरान पब्लिक प्रॉसिक््यूटर प्रतिकूल/दलित विरोधी रूख अख्तियार करते हैं।

अधिनियम स्पष्ट करता है कि इसके तहत दर्ज मुकदमों को डीवायएसपी की निचली रैंक के अफसर द्वारा जांच नहीं किया जा सकता, लेकिन ऐसे 4,000 से अधिक मामले पुलिस इंस्पेक्टर या पुलिस सब-इंस्पेक्टर की तरफ से जांच किए गए।

कई मामलों में उत्पीड़क की बेदाग रिहाई क्योंकि पीड़ित की अनुसूचित जाति/जनजाति की पहचान का प्रमाणपत्र नहीं जोड़ा गया। वजह, केस पेपर्स के साथ पीड़ित का जाति प्रमाणपत्र नत्थी नहीं किया गया।

पब्लिक प्रॉसिक््यूटर द्वारा अदालत के सामने यह झूठा दावा कि इस अधिनियम को राज्य सरकार ने संशोधित किया है जबकि यह कानून केन्द्र सरकार ने बनाया है।

कई मामलों में अदालत द्वारा अभियुक्त को अग्रिम जमानत जबकि अधिनियम में इसका कोई प्रावधान नहीं है। गौरतलब है कि अनुसूचित जाति और जनजाति मामलों की संसदीय समिति ने सूबा गुजरात में अत्याचार के मामलों में अग्रिम जमानत देने के बारे में चिन्ता प्रगट की थी।

रेखांकित करने वाली बात है कि कौन्सिल फॉर सोशल जस्टिस के सेक्रेटरी वालजीभाई पटेल द्वारा इस अधिनियम के तहत दिए गए 400 से अधिक फैसलों का विस्तृत और विधिवत अध्ययन (मार्च 2005, वर्ष 11, नंबर 106, <http://www.sabrang.com>) ने सरकार को उपरोल्लेखित 23 पेजी रिपोर्ट पर काम करने के लिए मजबूर किया था। यह रिपोर्ट बताती है कि किस तरह उच्च स्तर एवं निम्न स्तर की पुलिस तथा पब्लिक प्रॉसिक््यूटर्स द्वारा अपनाया गया प्रतिकूल रूख इस अधिनियम के तहत दर्ज मामलों के बिखर जाने का प्रमुख कारण है। इस बात को नोट किया जाना चाहिए कि उन्होंने 1 अप्रैल 1995 के बाद राज्य के 16 विभिन्न जिलों में स्पेशल एट्रासिटी कोर्ट द्वारा दिए गए फैसलों का विधिवत दस्तावेजीकरण किया था। यह अध्ययन इस दावे को भी बेपर्द करता है कि इस कानून की अक्षमता इसके तहत दर्ज फर्जी शिकायतों के चलते है, उल्टे यह



कड़वी सच्चाई सामने लाता है कि राज्य की सहभागिता ने ही इस महत्वपूर्ण अधिनियम को प्रभावहीन बनाया है।

अगर हम अधिक विस्तार में जाएं तो यह दिखता है कि अस्पृश्यता के अस्तित्व से ही इन्कार करने की प्रवृत्ति सरकारी स्तर पर नज़र आती रही है, जो सिलसिला राज्य के पूर्वमुख्यमंत्री—जो इन दिनों देश के प्रधानमंत्री हैं—के दिनों में ही तेज हुआ था। यह बेहद मौजूं होगा कि हम बीते हुए इस कालखण्ड पर निगाह डालें।

4.

**यह कैसा जन्तर,**

**अस्पृश्यता छूमंतर**

वह किस्सा सम्भवतः आदिगुरु शंकराचार्य के जीवन से सम्बन्धित बताया जाता है, जो 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' के विचार के हिमायती थे। कहा जाता है कि किसी अलसुबह अपने किसी शिष्य के साथ वह गुजर रहे थे और अचानक उन्होंने देखा कि सामने से कोई उन्मत्त हाथी दौड़ता हुआ आ रहा है। अपनी चर्चा को वहीं छोड़ कर उन्होंने शिष्य को भागने का संकेत दिया। थोड़ी देर बाद जब दोनों किसी सुरक्षित स्थान पर पहुंचे तो शिष्य ने बड़ी मासूमियत से पूछा कि गुरुवर आप तो तमाम जगत के मिथ्या होने की बात कर रहे थे, फिर पलायन क्यों किया? गुरु का चर्चित जवाब था 'गजोपि मिथ्या, पलायनोपि मिथ्या।' (अर्थात् हाथी भी मिथ्या था और हमारा भागना भी मिथ्या ही था।)

फिलवक्त यह कहना मुश्किल है कि उपरोक्त गुरु ने गुजरात का दौरा किया था या नहीं, अलबत्ता यह जरूर कहा जा सकता है कि इन महानुभाव का असर—कम-से-कम प्रबुद्ध कहे जाने वाले समुदायों पर—गहरे रूप में है। अगर आदिगुरु हाथी को यह कह कर 'अदृश्य' कर सकते थे कि वह महज माया है तो यहां सूबा गुजरात में सदियों से चली आ रही अस्पृश्यता की समस्या को भी उसी तरह 'विलुप्त' होते देखा जा सकता है, यह कहते हुए कि वह महज 'बोध/अनुभूति' अर्थात् परसेप्शन का मामला है।

इसकी पुष्टि करनी हो तो आप गुजरात सरकार द्वारा प्रायोजित रिपोर्ट 'इम्पेक्ट

ऑफ कास्ट डिस्क्रिमिनेशन एण्ड डिस्टिन्क्शन्स ऑन इक्रल आपर्चुनिटीज' को देख सकते हैं जिसे सीईपीटी (सेन्टर फार एनवायरोनमेन्ट प्लानिंग एण्ड टेक्नोलोजी) यूनिवर्सिटी से जुड़े प्रोफेसर आर पार्थसारथी की अगुआई में तैयार किया गया था। अपने ब्लाग 'टू लाईज' (www.true lies) में वरिष्ठ पत्रकार राजीव शाह ने इस अध्ययन की विस्तृत आलोचना पेश की थी। अगर निचोड़ के तौर पर बता दें कि यह रिपोर्ट नवसर्जन नामक संस्था द्वारा गुजरात के लगभग 1,600 गांवों में अस्पृश्यता की मौजूदगी को लेकर किए गए अध्ययन 'अंडरस्टैंडिंग अनटचेबिलिटी' को लेकर सामने आयी सरकारी प्रतिक्रिया थी।

आखिर नवसर्जन की रिपोर्ट में ऐसी क्या बात सामने आयी थी जिसने सरकार को सफाई देने के लिए मजबूर किया था।

मन्दिर प्रवेश से लेकर साझे जलाशयों के इस्तेमाल आदि तमाम बिन्दुओं को लेकर दलितों एवं वर्ण जातियों के बीच अन्तर्क्रिया की स्थिति को नापते हुए प्रस्तुत रिपोर्ट ने इस विचलित करने वाले तथ्य को उजागर किया था कि सर्वेक्षण किए गए गांवों में से 98 फीसदी गांवों में उन्हें अस्पृश्यता देखने को मिली है। गौरतलब था कि 2009 में प्रकाशित नवसर्जन की उपरोक्त रिपोर्ट पर मुख्यधारा की मीडिया में काफी चर्चा हुई और विश्लेषकों ने स्पंदित/वायब्रेन्ट कहे जाने वाले गुजरात की असलियत पर सवाल उठाए। वैसे यह कोई पहला मौका नहीं था जब यह सच्चाई सामने आयी थी और यह अपेक्षा की जा रही थी कि सरकार इसके निष्कर्षों पर गौर करेगी और अनुरूप कदम उठाएगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ।

इस बात को मद्देनजर रखते हुए कि यह रिपोर्ट 'समरस' के तौर पर पेश किए जाने वाले गुजरात की छवि को पंकर करती दिख रही थी, घबड़ायी सरकार ने आनन-फानन में सीईपीटी विश्वविद्यालय के विद्वानों को 'नवसर्जन' की उपरोक्त रिपोर्ट की पड़ताल एवं समीक्षा करने के लिए कहा। दरअसल सरकार खुद को क्लीन चिट देने के लिए इतनी बड़बुदवासी थी कि उसने इस प्रायोजित अध्ययन के अलावा एक दूसरा तरीका भी अपनाया। उसने तत्कालीन सामाजिक न्याय मंत्री फकीरभाई वाघेला की अध्यक्षता में विभिन्न सम्बन्धित विभागों के सचिवों की एक टीम का गठन किया जिसे यह जिम्मा सौंपा गया कि वह रिपोर्ट के निष्कर्षों को खारिज कर दे। इस उच्चस्तरीय कमेटी ने अपने मातहत अधिकारियों

को आदेश दिया कि वह गांव के अनुसूचित जाति के लोगों से यह शपथपत्र लिखवा लें कि उनके गांव में 'अस्पृश्यता' नहीं है।

टाईम्स आफ इंडिया तथा अन्य अग्रणी अखबारों में लम्बे समय तक सम्बद्ध रहे वरिष्ठ पत्रकार अपने ब्लाग में लिखते हैं कि सरकार द्वारा प्रायोजित यह तीन सौ पेज की रिपोर्ट 'अण्डरस्टेण्डिंग अनटचेबिलिटी की समीक्षा नहीं करती है बल्कि इस व्यवहार को औचित्य प्रदान करती दिखती है।' नवसर्जन द्वारा किए गए 1,589 गांवों के अध्ययन के बरअक्स सीईपीटी की रिपोर्ट महज पांच गांवों को कवर करती है और इन गांवों का विस्तृत सामाजिक-आर्थिक आंकड़े इकट्ठा करती है। पूरी रिपोर्ट में कहीं भी अस्पृश्यता शब्द का जिक्र नहीं है, हां जातिगत भेदभाव का अवश्य जिक्र है।

प्रख्यात समाजशास्त्री घनश्याम शाह भी सीईपीटी की रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए इसी किस्म के निष्कर्ष तक पहुंचते हैं (डब्लू डब्लू डब्लू काउंटरव्यू डाट आर्ग, 13 नवम्बर 2013) और कहते हैं कि कितने "हल्के" तरीके से सरकार ने भेदभाव की समस्या की पड़ताल की है। वह बताते हैं कि "न केवल विद्वानजन बल्कि सरकार भी यही सोचती है कि अगर उत्सव में या गांव की दावत में दलितों को अपने बरतन लाने पड़ते हैं या सबसे आखिर में खाने के लिए कहा जाता है, तो इसमें कुछ गडबड़ नहीं है।"

विडम्बना यही कही जाएगी कि जिन अग्रणी विद्वानों ने सरकार द्वारा प्रायोजित इस अध्ययन रिपोर्ट को तैयार किया वह जातिगत भेदभाव (संविधान की धारा 15) और अस्पृश्यता (धारा 17) के बीच के फरक को भी नहीं समझते थे या समझना नहीं चाहते थे क्योंकि उन्होंने अपने आप को सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण तक सीमित रखा और यही संकेत दिया कि एक अलग किस्म के रंगभेद के तौर पर समझे जाने वाली अस्पृश्यता की कड़वी हकीकत जिसका साबका लाखों लोगों से हर पल होता है, उसके बारे में वह खामोश रहना चाहते हैं।

एक अन्य विचलित करने वाला तथ्य यह भी रहा कि सरकारी रिपोर्ट वर्णाश्रम में सबसे निचले पायदान पर समझे जाने वाले वाल्मीकियों की स्थिति पर सिर्फ मौन ही नहीं रहती बल्कि उनका उल्लेख तक नहीं करती। उनका समूचा

फोकस बुनकरों पर है—जो सामाजिक तौर पर अधिक 'स्वीकार्य' कहे जाने वाला दलित समुदाय है। निश्चित ही वाल्मीकियों का अनुल्लेख कोई मानवीय भूल नहीं कहा जा सकता। उनके विशाल हिस्से का आज भी नारकीय कहे जाने वाले कामों में लिप्त रहना, जहां उन्हें आए दिन अपमान एवं कभी-कभी 'दुर्घटनाओं' में मौत का सामना करना पड़ता है, अब ऐसी कड़वी सच्चाई है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वैसे यह कोई पहली दफा नहीं है कि सरकार ने उनके वजूद से ही इन्कार किया हो। तथ्य बताते हैं कि वर्ष 2003 में गुजरात सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में यह शपथपत्र दाखिल किया था कि उनके राज्य में हाथ से मल उठाने की प्रथा नहीं है, जबकि कई अन्य रिपोर्टें एवं इस मसले पर तैयार डाक्युमेंटरीज में उसकी मौजूदगी को दिखाया गया है। वर्ष 2007 में जब टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज ने अपने अध्ययन में उजागर किया कि राज्य में 12,000 लोग हाथ से मल उठाते हैं, तब भी राज्य का यही रूख था।

अस्पृश्यता के अस्तित्व से इन्कार का ही प्रतिबिम्बन दलितों के विरोध प्रदर्शनों के प्रति नज़र आता रहा है।

मिसाल के तौर पर, 26 जनवरी 2012 की सुबह लगभग तीन बजे, जबकि लोग अभी नींद के आगोश में थे, अहमदाबाद शहर से कुछ दूरी पर स्थित सानन्द पुलिस स्टेशन पर शहर की पुलिस ने धावा बोल कर वहां धरना दे रहे बगल के रैठल गांव से आए दलित तबकों से जुड़े लोगों को तितर-बितर कर दिया। गणतंत्र दिवस की सुबह दलितों पर किए गए इस हमले की वजह यह थी कि सैकड़ों गांव वाले गांव के ही 25 साला युवक अतुल राठौड़ की लाश के साथ वहां धरना दे रहे थे और उसकी मौत के लिए जिम्मेदार गांव के ही दबंग जाति के अपराधियों को एवं उनके सरगना युवराज सिंह डोडिया को पकड़ने की मांग कर रहे थे। अचानक हुए इस हमले में तमाम लोग घायल भी हुए। पुलिस ने धरने की अगुआई कर रहे छह लोगों के खिलाफ मुकदमा भी दर्ज किया। गौरतलब था कि धरने को तितर-बितर करने के तत्काल बाद पुलिस ने डोडिया एवं उसके साथियों को भी गिरफ्तार किया।

रैठल में दलितों पर हुए हमले ने बरबस महज दो साल पहले के 14 अप्रैल की

याद ताजा कर दी जब गुजरात के सीमावर्ती कच्छ जिले के 83 साला अमराभाई परमार ने दम तोड़ दिया। दलित परिवार में जनमे अमराभाई 15 फरवरी से अपनी पत्नी के साथ भचाउ तहसील के सामने आमरण अनशन पर बैठे थे, छह अप्रैल को जब तबीयत अधिक खराब हुई तो उन्हें अस्पताल भर्ती कराया गया, वहीं 14 तारीख को उनकी मौत हुई। (भास्कर, 16 अप्रैल 2010) अपनी पैतृक 71 एकड़ ज़मीन सरकार से पाने के लिए अमराभाई ने इसके पहले भी मार्च 2008 में भुज कलेक्टर कार्यालय के सामने आमरण अनशन किया था।

‘वायब्रन्ट’ गुजरात और ‘प्रोस्पेरेस’ गुजरात जैसे केन्द्रीय नारों के तहत जब सूबे का प्रसार निदेशालय यह बताने में मुब्तिला रहता हो कि किस तरह गुजरात का नौजवान, किसान और महिलाएं तरक्की की राह की ओर बढ़ रहे हैं, और पूरे सूबे में सद्भावना कायम हो जाने की दुंदुंधियां बज रही हों उस वक्त रेटल के दलितों की दास्तां या अमराभाई की आपबीती किसी को रंग में खलल डालने जैसा लग सकता है।

मगर हकीकत शायद इससे भी अधिक कड़वी है।

यह वर्ष 2001 की बात है जब नरेश सोलंकी के ढाई साल के भतीजे का देहान्त हुआ। गुजरात के बनासकांठा जिले के पालनपुर ब्लॉक की हूडा गांव के इस दुखी परिवार ने उसे समुदाय/जाति के लिए बने श्मशान भूमि में दफना दिया। वे लोग घर पहुंचे ही नहीं थे कि खबर आयी कि गांव की दबंग पटेल जाति के एक व्यक्ति ने अपने ट्रैक्टर से उस लाश को ज़मीन से बाहर निकाल दिया था। दरअसल समुदाय की श्मशान भूमि के पास के ज़मीन के टुकड़े पर अतिक्रमण कर चुके पटेलों को यह बात नागवार गुजरी थी कि गांव के दलितों ने उस ‘विवादास्पद’ ज़मीन पर फिर अपना हक जता दिया।

लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि दफनाने के लिए ज़मीन की कमी का मसला महज हूडा गांव के दलितों तक सीमित है या यह गुजरात की परिघटना है। फरवरी 2009 के प्रथम सप्ताह में ‘मेल टुडे’ ने इस मसले पर रोशनी डाली थी। इस सन्दर्भ में गुजरात राज्य ग्राम पंचायत सामाजिक न्याय समिति मंच द्वारा किए गए सर्वेक्षण में पाया गया कि ‘गुजरात के 67 गांवों में से 397 गांवों में दलितों

के लिए दफनाने के लिए कोई अलग भूमि आवंटित नहीं है। वे 260 गांव जहां ज़मीन को औपचारिक तौर पर आवंटित किया गया है, उनमें से 94 गांवों की ज़मीनों पर वर्चस्वशाली जातियों का कब्जा है और 26 गांवों में वह कोई निचला इलाका है, जहां पानी भर जाता है।

अगर मृत दलितों के लिए मोदी के 'समृद्ध' एवं 'स्पंदित' गुजरात में कोई स्थान नहीं है, तो हम जीवित दलितों की स्थिति की कल्पना कर सकते हैं। इसे जानना हो तो आप अहमदाबाद में अपने लिए मकान की तलाश में निकल सकते हैं।

आम तौर पर यही देखने में आता है कि अगर कोई दलित उंची जाति के किसी बिल्डर या प्रापर्टी डीलर से मकान के लिए सम्पर्क करता है तो या तो उसे निरूत्साहित किया जाता है या देने से साफ इन्कार किया जाता है। इस बात से भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि दलित बेहतर आर्थिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित हो। बिल्डरों एवं रीयल इस्टेट एजेंटों के लिए एक अद्द दलित परिवार के लिए सोसायटी में मकान देना, बाद की बिक्री पर उलटा असर डालता है।

दरअसल यह गुजराती समाज में गहराई में व्याप्त वर्ण/जाति मानसिकता का ही परिचायक है - जिसे 2002 के जनसंहार के बाद एक नया जीवन मिला है। इस परिस्थिति ने एक नयी प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यह बात देखने में आ रही है कि हाल के समयों में अकेले अहमदाबाद में 'सिर्फ दलितों के लिए बनी - लगभग तीन सौ की संख्या में' रिहायशी सोसायटीज का निर्माण हुआ है। इण्डियन एक्सप्रेस के रिपोर्टर ने कुछ समय पहले इसे लेकर तैयार अपनी रिपोर्ट में साफ लिखा था कि "यह कोई चॉइस/पसन्दगी का मामला नहीं है बल्कि मजबूरी का मामला है।" (ए दलित? गो फाइन्ड ए दलित सोसायटी, डी पी भट्टाचार्य, अहमदाबाद, 17 जून 2007)

5.

## महाड़ से उना

20 मार्च 1927 को डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने महाड़ के सार्वजनिक चवदार तालाब से पीने का पानी पीने के लिए चले सत्याग्रह की अगुआई की, यह एक तरह से दलित आंदोलन का 'बुनियादी किस्म का संघर्ष था जब पानी के लिए और जाति उन्मूलन के लिए लड़ाई छेड़ी गयी।

उस वक्त आन्दोलन के बारे में बोलते हुए डॉ. अंबेडकर ने आंदोलन के उद्देश्यों को अधिकतम व्यापक सन्दर्भों में रखा। उन्होंने पूछा कि हम क्यों लड़ रहे हैं, आखिर पीने का पानी हमें अधिक कुछ नहीं देगा। उनके मुताबिक यह कोई हमारे मानवाधिकार का भी मसला नहीं था, भले ही हम पीने के पानी के अधिकार को स्थापित करने के लिए यहां एकत्रित हुए हैं। हमारा लक्ष्य फ्रेंच इन्कलाब से कम नहीं है।

और इस तरह दलित पीने के पानी के लिए महाड़ पहुंचे। वहां ऊंची जातियों के हिंदुओं ने उन पर जबरदस्त दमन किया। दलितों को पीछे हटना पड़ा, वह कुछ महीनों बाद दिसंबर 25 को फिर लौटे और चूंक कलेक्टर ने उनके हाथों में वहां पहुंचने से रोकने का आदेश दिया था, तब डॉ. अंबेडकर ने उनके आदेश का उल्लंघन न करने का निर्णय लिया और इसके बजाय मनुस्मृति जला दी। यह एक तरह से दलित मुक्ति के पहले संग्राम की



उचित परिणति थी।

(<https://seekingbegumpura.wordpress.com/2013/03/22/the-mahad-satyagraha/>)

गुजरात में दलित विद्रोह और जिस तरीके से उसने राज्य सरकार को हिला दिया है और देश भर में दलितों के बीच अपने आधार को विस्तारित करने की भाजपा की सुचिंतित योजनाओं को फौरी तौर पर पलीता लगा दिया है, उसने एशिया के इस हिस्से के हर अमन एवं इन्साफ पसंद व्यक्ति को उल्लसित कर दिया है।

जिस चीज़ ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, वह है आन्दोलन का प्रमुख नारा जो कहता है कि 'गाय की पूँछ अपने पास रखो और हमें अपनी ज़मीन दो।' वह एक ऐसा नारा है जो जातिगत भेदभाव, साम्प्रदायिकता के सवाल को समाहित करता है, एक चतुष्पाद/जानवर के नाम पर लोगों के बीच ध्रुवीकरण तेज करने के उनके इरादों को चुनौती देता है और भौतिक वंचना—जो जाति के सोपानक्रम का अविभाज्य हिस्सा है—उसे लेकर सकारात्मक मांग पेश करता है। आन्दोलन का यह जोर कि दलित अपने 'लांछन लगे पेशों' को छोड़ दें—जिन्होंने उन्हें वर्ण/जाति के सोपानक्रम में सबसे निचले पायदान पर रखा है—और हजारों हजार दलितों की उसमें सहभागिता, आन्दोलन का जुझारू तेवर आदि सभी ने दलित आन्दोलन में एक नयी ज़मीन तोड़ी है।

निःसन्देह आन्दोलन में बहुत कुछ स्वतःस्फूर्त रहा है, मगर जिस तरह आन्दोलन आगे बढ़ा है और जिस तरह उसने दलित दावेदारी को न केवल नयी धार प्रदान की है बल्कि हिंदूराष्ट्र की अपनी प्रयोगशाला में उसके लिए चुनौती पेश की है, उसकी कल्पना आन्दोलन के युवा नेतृत्व के बिना नहीं की जा सकती। उनके समावेशी एप्रोच ने भी अन्य संगठनों के कार्यकर्ताओं को आन्दोलन के साथ जोड़ने में या ऐसे तमाम लोगों को साथ लाने में जो हिंदुत्व की राजनीति से असहमत हैं, सहूलियत प्रदान की है। आन्दोलन का समावेशीपन इस बात में भी स्पष्ट था कि मुसलमान समुदाय—जो 2002 के दंगों के बाद सूबा गुजरात में न्याय से लगातार इन्कार के चलते तथा राज्य में बहुसंख्यकवाद के बढ़ते सामान्यीकरण के चलते एक तरह से दुर्दशा में तथा दोयम दर्जे की स्थिति में जी रहा है—वह भी उना की ओर निकली आज्ञादी कूच में शामिल हुआ। न केवल

सैकड़ों मुस्लिम उना में आयोजित रैली में पहुंचे बल्कि मुसलमान समुदाय ने रास्ते में जगह-जगह रैली का स्वागत भी किया।

इस विद्रोह का कम चर्चित पहलू रहा है कि राज्य की आबादी में महज सात फीसदी होने के बावजूद—तथा विभिन्न जातियों में बंटे होने के बावजूद—तथा लड़ाकू आन्दोलन के इतिहास के अभाव के बावजूद, आन्दोलन ने जिन तारों को छेड़ा है, जिन मांगों को उठाया है, उसकी अनुगूँज दूर तक सुनायी दे रही है और सरकार के लिए आन्दोलन का दमन करना मुमकिन नहीं हो रहा है। यह आन्दोलन के जबरदस्त प्रभाव का ही परिणाम था कि भाजपा को अपने मुख्यमंत्री को बदलना पड़ा बल्कि दलितों तक पहुंचने के निर्धारित कार्यक्रम पर नए सिरे से सोचना पड़ा। दबंग जातियों के जरिए जगह-जगह दलितों पर हो रहे हमलों को लेकर अपनी सक्रियता न दिखा कर उसकी कोशिश यही है कि दलितों का मनोबल टूटे, इतना ही नहीं अपुष्ट समाचारों के अनुसार आन्दोलन के दौरान हुई हिंसा को लेकर वह तमाम दलितों पर मुकदमे कायम करने की तैयारी में है ताकि वह जनान्दोलनों में सक्रिय भूमिका निभाने के बजाय कोर्ट-कचहरी के ही चक्कर लगाते रहें।

अगर हम पचास के दशक में डॉ. अंबेडकर के अभिन्न सहयोगी दादासाहब गायकवाड द्वारा ज़मीन के सवाल पर छेड़े गए ऐतिहासिक सत्याग्रह को छोड़ दें तो आजादी के बाद के दिनों में ऐसे अवसर बेहद कम आए हैं कि दलितों की भौतिक वंचना के सवाल को सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव एवं राजनीतिक हाशियाकरण के साथ जोड़ा जा सका है। उना ने इस परिदृश्य को हमेशा के लिए बदला है। उसने कई ऐसे नारों को भी उछाला है, जो दलित आन्दोलन में लगाए नहीं जाते थे। उदाहरण के तौर पर 'दुनिया के दलित एक हों,' 'दुनिया के मजदूर एक हों,' लाल सलाम और जय सावित्रीबाई। (<https://www.youtube.com/watch?v=9jqgA75o5PE>)

विश्लेषकों ने इस बात को सही समझा है कि हाल के समयों में दलित आन्दोलन 'अस्मिता' के मुद्दे तक ही सीमित रहा है? मगर उना ने इस मामले में एक नयी ज़मीन तोड़ी है जहां अब अस्तित्व का सवाल भी साथ जुड़ा है। जैसा कि इन्कलाबी आन्दोलन के एक कार्यकर्ता ने अपने ईमेल में लिखा 'उना संघर्ष के

बारे में नोट करने लायक बात यह है कि उसे हम एक ऐसे नैरन्तर्य (continuum) के तौर पर देख सकते हैं जो सामाजिक आन्दोलनों के सवाल को व्यवस्था विरोधी संघर्ष के साथ जोड़ता है।’

निश्चित ही उना के आन्दोलन को—जिसने हिंदुत्व वर्चस्वादियों को काफी बेचैन कर दिया है—उसे देश में दलित उभार में आई तेजी का की अन्य घटनाओं, मुहिमों, आन्दोलनों की निरन्तरता में ही देखना होगा। यह साफ दिख रहा है कि वर्ष 2014 में जब से मोदी की अगुआई में सरकार बनी है तबसे दलितों के उभार की कई घटनाएं सामने आयी हैं और दिलचस्प यह है कि हर आने वाली घटना अधिक जनसमर्थन जुटा सकी है। दरअसल यह एहसास धीरे-धीरे गहरा गया है कि मौजूदा हुकूमत न केवल सकारात्मक कार्रवाई वाले कार्यक्रमों (आरक्षण तथा अन्य तरीकों से उत्पीड़ितों को विशेष अवसर प्रदान करना) पर आघात करना चाहती है बल्कि उसकी आर्थिक नीतियों—तथा उसके सामाजिक आर्थिक एजेण्डा के खतरनाक संश्रय ने दलितों एवं अन्य हाशियाकृत समूहों/तबकों की विशाल आबादी पर कहर बरपा किया है। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि हुकूमत में बैठे लोगों के लिए एक ऐसी दलित सियासत की दरकार है, जो उनके इशारों पर चले। वह भले ही अपने आप को डॉ. अंबेडकर का सच्चा वारिस साबित करने की कवायद करते फिरें, लेकिन सच्चाई यही है कि उन्हें असली अंबेडकर नहीं बल्कि उनके साफ-सुथराकृत संस्करण की आवश्यकता है। वह वास्तविक अंबेडकर से तथा उनके रैडिकल विचारों से किस कदर डरते हैं यह गुजरात की पूर्वमुख्यमंत्री आनंदीबेन पटेल के दिनों के एक निर्णय से समझा जा सकता है जिसने किसी विद्वान से सम्पर्क करके लिखवाये अंबेडकर चरित्र की चार लाख प्रतियां कबाड़ में डाल दीं, वजह थी कि उस विद्वान ने किताब के अन्त में उन 22 प्रतिज्ञाओं को भी शामिल किया जो डॉ. अंबेडकर ने 1956 में धर्मांतरण के वक्त अपने अनुयायियों के साथ ली थीं। @<http://www.baiae.org/resources/great-people/dr-babasaheb-ambekar/12-ambekar-writings-and-speeches/7-22-vows-of-dr-ambekar.html>@

और शायद इसी एहसास ने जबरदस्त प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। और अब यही संकेत मिल रहे हैं कि यह कारवां रूकने वाला नहीं है।

चाहे चेन्नई आई आई टी में अंबेडकर पेरियार स्टडी सर्कल पर पाबंदी के खिलाफ चली कामयाब मुहिम हो (<https://kafila.org/2015/06/05/no-to-ambekar-periyar-in-modern-day-agraharam/>) या हैदराबाद सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी के मेधावी छात्र एवं अंबेडकर स्टुडेंट एसोसिएशन के कार्यकर्ता रोहित वेमुल्ला की 'सांस्थानिक हत्या' के खिलाफ देश भर में उठा छात्र युवा आन्दोलन हो (<https://kafila.org/2016/01/22/long-live-the-legacy-of-comrade-vemula-rohith-chakravarthy-statement-by-new-socialist-initiative-nsi/>) या महाराष्ट्र में सत्तासीन भाजपा सरकार द्वारा अंबेडकर भवन को गिराये जाने के खिलाफ हुए जबरदस्त प्रदर्शन हों या इन्कलाबी वाम के संगठनों की पहल पर पंजाब में दलितों द्वारा हाथ में ली गयी 'ज़मीन प्राप्ति आन्दोलन' हो—जहां जगह-जगह दलित अपने ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को लेकर सामूहिक खेती के प्रयोग भी करते दिखे हैं, यही बात समझ में आती है कि दलित दावेदारी की तीव्रता बढ़ रही है और उसका लड़ाकूपन तथा व्यापकता में नयी तेजी आयी है।

...पंजाब में पंचायत की 1,58,000 एकड़ पंचायत ज़मीन में से दलितों का हिस्सा महज 52,667 एकड़ का है। नज़ूल ज़मीनों के तहत भी उन्हें कानूनी हक मिला है, मगर इन तमाम ज़मीनों पर वास्तविक कब्जा भूस्वामियों और धनी किसानों का है। 2010-11 के कृषि जनगणना को देखें तो पंजाब में अनुसूचित जाति के लोग, जो आबादी का तीसरा हिस्सा हैं, उनके पास भूमि का महज 6.02 फीसदी हिस्सा था और राज्य की भूमिक्षेत्र का महज 3.2 फीसदी था।

वर्ष 2014 के बाद से दलित किसान ज़मीन प्राप्ति संघर्ष समिति के बैनर तले संगठित हुए हैं और उन्होंने लाल झंडा लेकर जो उनकी अपनी ज़मीन है, उस पर हक जताना शुरू किया है। इन ज़मीनों को भूस्वामियों के पिट्टू उम्मीदवारों को नीलाम किया जाता था; उदाहरण के लिए संगरूर जिले में एक गोशाला को तीस साल तक के लिए सात हजार रूपया प्रति एकड़ के हिसाब से तीस साल के लिए अकाली दल-भाजपा सरकार द्वारा ज़मीन आवंटित की गयी है जबकि दलितों के लिए यही कीमत

20,000 रूपए से अधिक बताया जाती है। दक्षिण पंजाब के जिलों में फैलते इस संघर्ष को पुलिस एवं भूस्वामियों के दमन का सामना करना पड़ा है, उनके खिलाफ फर्जी एफआईआर दर्ज हुई हैं, मगर संघर्ष तेजी से फैल रहा है।

(<https://nbsdelhi.wordpress.com/2016/08/24/hail-the-assertion-by-landless-dalits-of-punjab-and-gujarat-of-their-right-to-land-land-to-the-tiller-key-to-annihilating-caste/>)

अगर दलित अवाम के अच्छे खासे हिस्से का भाजपा की तरफ—विभिन्न कारणों से—अनपेक्षित झुकाव एक तरह से 2014 में उनकी चुनावी जीत में एक महत्वपूर्ण कारक था, अब दलितों की बढ़ती दावेदारी इसी बात का प्रमाण है कि अब उन्हें और बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। हिंदुत्व वर्चस्ववादियों के वास्तविक एजेण्डा की परतें खुलते जाने से—जो न केवल इस बात में प्रगट हो रहा है कि शोषितों एवं हाशिये में पड़े समुदायों के जीवन एवं जीवनयापन के अधिकारों पर संगठित हमला हो रहा है बल्कि उनकी इस बौखलाहट में भी सामने आ रहा है कि वह डॉ. अंबेडकर को अपने असमावेशी एजेण्डा के 'प्रातःस्मरणीयों' में शामिल करना चाहते हैं मगर दलित दावेदारी के हर तत्व को कुचल देना चाहते हैं - दोनों ओर सीमा रेखाएं खिंच गयी हैं।

उना के बहाने सामने आए दलित विद्रोह ने इस संघर्ष की रौनक और बढ़ा दी है।  
(Note - \*translated from original Gujarati by G K Vankar,  
<http://roundtableindia.co.in/lit-blogs/?tag=sahil-parmar>)

## परिशिष्ट 1

### **किस तरह गोरक्षकों द्वारा बंजारों पर किए गए हमले ने राजस्थान में उना जैसे आन्दोलन की चिंगारी फेंकी**

—सुचि पांडे

तीन अक्टूबर की रात को गोरू, एक बंजारा, राजस्थान के राजसमंद जिले में आयोजित पशु मेले से अपने गांव बामखेड़ा लौट रहा था, जब उस पर सत्रह लोगों ने हमला किया जो अपने आप को स्वयंभू गोरक्षक कहलाते थे। हमलावर जो बजरंग दल की स्थानीय इकाई के सदस्य थे, उन्होंने गोरू और उसके साथ चल रहे लोगों से पांच हजार रूपए मांगे और उन पर यह आरोप लगाया कि वह पशुओं की हत्या के लिए उन्हें ले जा रहे हैं। जब उन्होंने पैसा देने से मना कर दिया, उन्होंने उनके ट्रक में आग लगायी, उनके छह बैलों को जल्ला किया जिन्हें वह खरीद कर ला रहे थे। मालूम हो कि इस मेले का आयोजन जिला प्रशासन की तरफ से किया गया था।

इतिहासकारों के मुताबिक बंजारा एक वैविध्यतापूर्ण समुदाय है जहां धर्म, परिवार एवं जेण्डर/स्त्रीपुरुष भेद को लेकर प्रगतिशील नज़रिया मौजूद है। भले ही वह शुरुआत में राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश में संकेन्द्रित रहे हों, अब वह देश के सभी हिस्सों में फैल गए हैं। सामानों एवं सेवाओं के यातायात में लम्बे समय से मुब्तिला होने के चलते राजस्थान के बामनिया बंजारों का बैलों के साथ ऐतिहासिक रिश्ता रहा है। मोटरीकृत वाहनों के आगमन के साथ, जबकि इनमें से तमाम लोग कामगार आबादी में पहुंच गए हैं, गोरू जैसे कइयों ने अपने अतीत के व्यापार से अपना रिश्ता बनाए रखा है, जो बैल खरीदते हैं और किसानों को बेचते हैं।

गोरू और उसके बंजारा सहयोगियों के लिए ऐसी हिंसा कोई नयी बात नहीं है, मगर इस हमले ने समूचे समुदाय को गोया गोरक्षकों के खिलाफ आन्दोलित किया। यह उसी किस्म का

आलोडन था जैसा कि गुजरात के उना में देखने को मिला था। हमलावरों के खिलाफ पुलिस केस दर्ज हुए, कुछ हमलावरों को गिरफ्तार किया और पूरा समुदाय विरोध में इकट्ठा हुआ। आन्दोलन के अग्रणी हिस्से में बंजारा महिलाएं थी, जिनमें से एक हजार स्त्रियों ने राजसमंद जिले में एक विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया और राजस्थान के अन्य जनान्दोलनों एवं मुहिमों के साथ मिल कर एक जनसुनवाई का आयोजन किया।

(<http://scroll.in/article/821047/how-an-assault-on-banjaras-by-gaurakshaks-sparked-an-una-like-movement-in-rajasthan>)

## परिशिष्ट 2

### उना की आग में रोशन भगवा उडुपी

—आनंद तेलतुम्बडे

(<http://www.epw.in/journal/2016/44-45/margin-speak/fire-una-ignites-saffron-udupi.html>)

गुजरात में गौ रक्षकों द्वारा एक दलित परिवार को सरेआम पीटे जाने की घटना से दलितों का जो संघर्ष शुरू हुआ था, उसने देश भर के दलितों का ध्यान अपनी तरफ खींचा है। किसी भी लिहाज से यह अपनी तरह की पहली घटना नहीं थी। जहां तक गाय की हत्या के शक में दलितों को सताने की बात है, तो 15 अक्टूबर 2002 को दशहरे के दिन हरियाणा के झज्जर के करीब कहीं ज्यादा खौफनाक घटना घटी थी। हिंदुत्ववादियों की एक भीड़ ने जानवरों की खाल ले जा रहे पांच दलितों को दुलीना पुलिस चौकी के करीब पीटा, उनकी आंखें निकाल लीं और उनके अंग-भंग किए और फिर उनमें आग लगा दी। अत्याचारों के रूप में पिछले साल दलितों पर हमलों के 47,000 से ज्यादा मामले आधिकारिक रूप से दर्ज किए गए, जिसका हिसाब लगाएं तो हम पाते हैं कि हर रोज दो दलित मारे जाते हैं और पांच दलित औरतों के साथ बलात्कार होता है। उना प्रतिरोध से फर्क यह आया कि इसने जमीन के मुद्दे को उठाया, जो दलितों को मैला साफ करने और मरे हुए जानवरों को उठाने जैसे परंपरागत, अपमानजनक कामों से आजादी दिलाएगा। दूसरी अहम बात यह थी कि यह उस गुजरात में हुआ था जिसे कई बरसों से नरेंद्र मोदी द्वारा बनाए गए विकास मॉडल के रूप में पेश किया जा रहा था। यही वह प्रचार था, जिसने उन्हें विकास पुरुष की छवि दी और प्रधानमंत्री के ऊंचे पद पर पहुंचाया। उना ने इस झूठ को सारी दुनिया के सामने उजागर कर दिया।

उना से प्रेरित पहला दलित आंदोलन करीब-करीब उम्मीद के मुताबिक ही कर्नाटक में शुरू

हुआ। यह सब सोशल मीडिया में उना पर चर्चा से शुरू हुआ, जिसके नतीजे में बेंगलुरु में बुलाई गई एक फौरी बैठक में 300 से ज्यादा नौजवान जमा हुए। उन्होंने बेंगलुरु से उडुपी तक 'चलो उना' की तर्ज पर एक जुलूस निकालने का फैसला किया। उडुपी हिंदुत्व बलों का एक गढ़ है और जहां अगस्त 2016 में पिछड़ी जाति से आने वाले प्रवीण पुजारी को हिंदू जागरण वेदिके के बैनर तले विश्व हिंदू परिषद और बजरंग दल के 18 लोगों ने पीट-पीट कर मार डाला। उन्होने पुजारी को एक गाड़ी में दो गायें ले जाते हुए पाया था। दिलचस्प बात यह है कि 29 वर्षीय पुजारी खुद भाजपा सदस्य थे और उन्होंने उनसे फरियाद की थी कि वे बस अपने दोस्तों के लिए बछड़े ढोकर ले जा रहे हैं। बेशक इससे कोई फर्क नहीं पड़ा, और वे संघ परिवार के घिनौने गोरक्षा अभियान के शिकार बन गए...

### भगवा उडुपी में नीला परचम

4 अक्टूबर को चलो उडुपी रैली बेंगलुरु के फ्रीडम पार्क से शुरू हुई और यह स्वतःस्फूर्त ढंग से दलितों, अल्पसंख्यकों और वाम कार्यकर्ताओं को एक साथ ले आई। अगले पांच दिनों तक यह उडुपी की तरफ बढ़ते हुए रास्ते में नीलमंगला, कुनीगल, चन्नारयपाटना, हासन, बेलुर और चिकमगलूर में हिंदुत्व बलों के फासीवादी हमलों के खिलाफ बैठकें और कार्यक्रम किए। 9 अक्टूबर को जब यह उडुपी पहुंची, वहां जोरदार बारिश ने इसका स्वागत किया। दोपहर तक बारिश रुक गई और अज्जारकड मैदान में तख्तियों और बैनरों के साथ लोग धीरे-धीरे जमा होने लगे। वहां तैयार किए गए छोटे से मंच को पोंछ कर साफ कर दिया गया, जिस पर लगा 'चलो उडुपी' का गीला हो चुका बैनर चमक रहा था। मीटिंग शुरू होने तक नीले झंडे लिए हुए करीब 10,000 लोगों की भारी भीड़ भगवा उडुपी पर छा गई थी। रैली ने गुजराती दलितों के संघर्ष और दलित महिला स्वाभिमान यात्रा के साथ एकजुटता जाहिर की जिसे दलित महिलाओं ने 18-28 सितंबर के बीच राजस्थान में निकाला था। पूरे प्रतिरोध पर महिलाओं की दावेदारी की जबरदस्त छाप थी, हालांकि वे अल्पसंख्या में ही थीं और दस सदस्यों वाली कोर कमेट्री में उनकी संख्या सिर्फतीन थी।

मीटिंग में उना संघर्ष का चेहरा बन चुके जिग्नेश मेवानी ने भाग लिया, जिन्होंने बढ़ा-चढ़ा कर प्रचारित किए गए गुजरात मॉडल के खोखलेपन को उजागर किया और बताया कि कैसे 2002 दंगों के बाद, मुसलमानों के बाद दलित लोग ही पीड़ितों के अकेले सबसे बड़े समूह थे और गिरफ्तार होने वालों में भी वही थे। भाषण में उनके नारे की गूंज थी : 'हमारी पसंद का खाना, जमीन हमारा अधिकार है।' जिग्नेश ने तीन सूत्रों वाले एजेंडे के साथ उडुपी लौटने का वादा किया : सभी गौरवकों पर पाबंदी लगाई जाए, कर्नाटक सरकार से पूछा जाए कि इसने 1969 के राजकीय भूमि



अनुदान नियमों के मुताबिक इसने कितनी राजस्व भूमि दलितों और आदिवासियों की दी है और उडुपी के उन मठों में घुसा जाए जो दलितों के खिलाफ पंक्ति भेद का पालन करते हैं...

### **बदलती हुई दलित राजनीति**

उना के साथ ही दलित आंदोलन में एक अच्छा बदलाव आया है। आखिरी बार दलितों ने अपनी रोज-रोटी से जुड़े किसी मुद्दे को 1953-1965 के दौरान उठाया था, जब तीन भूमि सत्याग्रह खुद बाबासाहेब अंबेडकर की प्रेरणा से हुए थे। अपने जीवन के आखिरी दौर में अंबेडकर ने महसूस किया था कि उन्होंने जो कुछ भी किया था, उससे पढ़े-लिखे दलितों के बस एक छोटे से हिस्से को ही फायदा हुआ है और वे देहाती दलित जनता की व्यापक बहुसंख्या के लिए कुछ नहीं कर सके। जहां पहले दो सत्याग्रह महाराष्ट्र में 1953 और 1959 में हुए थे, वहीं आखिरी सत्याग्रह देश भर में अभूतपूर्व स्तर पर किया गया था, जिसमें एक महीने के दौरान महिलाओं और बच्चों समेत लाखों लोगों ने गिरफ्तारियां दी थीं और देहाती शासक समूहों में हलचल मचा दी थी। कांग्रेस ने इससे निबटने के लिए कोऑप्शन की मिला लेने वाली तरकीब आजमाई जिससे मौकापरस्त दलितों की चांदी हो गई और आखिरकार जिसने दलित आंदोलन का ही अंत कर दिया।

पतित हो चुके दलित नेतृत्व के खिलाफ अपने गुस्से को जाहिर करने के लिए और उसे अलग-थलग करने के लिए हाल के दशकों में दलित बार-बार अपने बूते पर सड़कों पर उतरते रहे हैं, जिसमें वे कभी नेताओं का साथ नहीं लेते। इसकी झलक 1997 में मिली जब वे मुंबई के रमाबाई नगर में 10 बेगुनाह लोगों की गोली मार कर हत्या कर देने की प्रतिक्रिया में सड़कों पर उतरे। इसके बाद यह अहम रूप से खैरलांजी में दिखा। लेकिन वे अपनी खातिर लंबे दौर के लिए एक दिशा नहीं तय कर सके। पहली बार उस अत्याचार से आगे बढ़ते हुए, जिसने उसे जन्म दिया, उना ने यह मुमकिन कर दिखाया है। यह उनके अपमान से उपजी कमजोरी को उनकी ताकत में तब्दील कर सकती है। उन्होंने सामूहिक रूप से यह फैसला किया कि वे जाति द्वारा तय किए गए धंधे जैसे मैले की सफाई, मरे हुए जानवरों को उठाने और मवेशियों की खाल उतारने जैसा काम नहीं करेंगे। उन्होंने इसके बदले में ज़मीन की मांग की है। यह मोदी के मठ को हिला चुका है और इसने राज्य प्रशासन को मजबूर किया है कि यह ज़मीन के टुकड़ों की पैमाइश करके उन्हें सचमुच लोगों को सौंपने की शुरुआत करे। उना से प्रेरित उडुपी मार्च इसका विस्तार करके इसे 'अपनी पसंद के खाने' तक पर ले गया, जिसने फासीवादी सरकारों द्वारा गोमांस पर लगाई गई सनक भरी पाबंदी को चुनौती दी, जिससे बहुसंख्यक आबादी के लिए भोजन और रोजगार का संकट पैदा हो गया है। इन आंदोलनों में इसकी क्षमता है कि वे देश भर में एक व्यापक फासीवाद-विरोधी आंदोलन के रूप में फैल सकते हैं, इसके लिए देश

भर के सभी प्रगतिशील लोगों को अपने खोल से बाहर आकर इनका समर्थन करना चाहिए।

(मूल अंग्रेजी से अनुवाद : रेयाजुल हक )

समग्र हिन्दी अनुवाद के लिए देखें : <http://hashiya.blogspot.in/2016/11/>

[blog-post.html](http://hashiya.blogspot.in/2016/11/blog-post.html)

### परिशिष्ट 3

#### **पंजाब में दलितों का भूमि आंदोलन**

25 मई 2016 के पंजाब के अखबारों में प्रदेश के संगरूर जिले की भवानीगढ़ तहसील के बालद कलां गांव में ज़मीन के अधिकार के लिए आंदोलित दलितों पर पुलिस की बर्बर कार्रवाई की खबर छपी। 'जनहस्तक्षेप' के साथियों ने वहां जाकर सच्चाई जानने का फैसला किया 28-29 मई को हमारी टीम ने आंदोलन के कुछ गांवों का दौरा किया। बालद कलां के दलित अनसूचित जाति समुदाय के लिए आरक्षित पंचायती ज़मीन की नीलामी में 'फर्जीवाड़ा' का विरोध कर रहे थे।

पंजाब की ग्रामीण संरचना में जातीय वर्चस्व का आधार आर्थिक संसाधनों, मुख्यतः खेती की ज़मीन पर मिलकियत में गैर-बराबरी है। इसीलिए ज़मीन कि यह लड़ाई जातिवादी दमन तथा जातिवाद के विरुद्ध भी है, क्योंकि भारत में शासक जातियां ही शासक वर्ग भी रही हैं। जमींदार या बड़े-छोटे-मझले किसान ज्यादातर ऊंची जातियों (प्रमुखतः जाट) के हैं, दलित ज्यादातर भूमिहीन। गांवों में दो तरह की शामलात (सामूहिक) ज़मीनें हैं, नज़ूल और पंचायती। नज़ूल ज़मीन ज्यादातर ऐसी ज़मीनें हैं, जिनके मालिक बंटवारे के बाद पाकिस्तान चले गये और जो पंजाब के उस तरफ से आये लोगों को आर्बिट्रि कराने के बाद बच गयी तथा जिन ज़मीनों के मालिक बिना उत्तराधिकारी या विरासत के मर गये। हर ग्राम पंचायत के अधिकार क्षेत्र में कुछ सार्वजनिक ज़मीन पंचायत के आधीन होती है। पंजाब विलेज कॉमन लैंड रेगुलेशन एक्ट, 1961 के तहत खेती की सार्वजनिक ज़मीन में एक-तिहाई पर अनुसूचित जातियों के आरक्षण का प्रावधान है। आंदोलन से जुड़े पंजाबी कवि तथा नवजवान भारत सभा के कार्यकर्ता सुखविंदर सिंह पप्पी ने बताया कि कागजों पर 56,000 एकड़ ज़मीन दलितों को आर्बिट्रि थी, लेकिन ज़मीन पर एक इंच भी नहीं। पंचायती ज़मीन की सालाना नीलामी होती है। धनी किसान किसी डमी दलित किसान के नाम से बोली लगाकर ज़मीन पर काबिज रहते रहे हैं। शिक्षा के प्रसार के साथ आई दलित चेतना में उभार से दलित अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए।

पंजाब में किसान आंदोलनों का लंबा इतिहास है। लेकिन ज़मीन प्राप्ति संघर्ष कमेटी (जेडपीयससी)

के तत्वावधान में पंजाब के मालवा क्षेत्र के बहुत से गांवों में चल रहा भूमि आंदोलन कई मायनों में पहले के आंदोलनों से अलग है। यह एक नये किस्म का जातीय/वर्ग संघर्ष है। एक तरफ पंचायती ज़मीन की एक-तिहाई के असली हक़दार गांव के दलित हैं, दूसरी तरफ फर्जीवाड़े से उस पर, प्रशासन की मिलीभगत से काबिज रहे ऊंची जातियां। इस आंदोलन की एक खास बात है सामूहिकता। संघर्ष की सामूहिकता की बुनियाद पर जिन गांवों के दलितों ने खेती की ज़मीन हासिल की है वहां उन्होंने सामूहिक खेती के प्रयोग से, सामूहिक श्रम तथा उत्पादों के जनतांत्रिक वितरण की प्रणाली के सिद्धांतों पर जेडपीयससी के परचम तले दलित सामूहिक की नींव डाली। यहां कुछ आंदोलनों के मार्फत दलित सामूहिक (दलित कलेक्टिव) की व्याख्या की कोशिश करेंगे।

### **बनरा संघर्ष : एक नई शुरुआत**

धोखाधड़ी तथा प्रशासन की मिलीभगत के फर्जीवाड़े से दलितों के लिए आरक्षित पंचायती ज़मीन पर ऊंची जातियों के धनी किसानों का नियंत्रण बना रहा। 2008 में बरनाला जिले के बनरा गांव के बहाल सिंह ने क्रांतिकारी पेंदू मजदूर यूनियन के परचम तले गांव के 250 दलित परिवारों को लामबंद किया। आंदोलित लामबंदी ने ऐसा माहौल खड़ा कर दिया कि जाट जमींदारों तथा धनी किसानों के लिए कोई बिकाऊ डमी दलित मिलना असंभव हो गया। आंदोलन से सामूहिकता की विचारधारा ने जन्म लिया। सामूहिक बोली से बनरा के दलितों ने गांव की 33 प्रतिशत पंचायती ज़मीन (9 एकड़) का सामूहिक पट्टा करवा। आत्मसम्मान तथा मानवीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह 9 एकड़ ज़मीन बनरा के दलितों के लिए संजीवनी साबित हुई। उत्पीड़न की साझी यादों तथा साझे संघर्ष के उत्पन्न हुई सामूहिकता की समझ। खाद्यान्न उत्पादन के लिए ज़मीन बहुत कम है, प्रति परिवार 10 बिस्सा। सोची-समझी योजना के तहत वे धान-गेहूं की पारम्परिक फसल चक्र की बजाय सामूहिक ज़मीन पर चरी और बरसीम जैसी चारे की खेती का बारहमासी फसलचक्र अपनाया। 11 लोगों की निर्वाचित समिति उत्पादन तथा समुचित वितरण की देख-रेख करती है। वितरण अगले साल की बोली की रकम की बचत के बाद होता है। मवेशियों के चारे के लिए गांव की महिलाओं को दूर-दूर जाना पड़ता था या जमींदारों के खेतों में जहां उन्हें अपमानित होना पड़ता था। ज़मीन का यह संघर्ष जातीय वर्चस्व के विरुद्ध आर्थिक संघर्ष है। बनरा प्रयोग का प्रसार 5 साल से अधिक समय तक स्थिर रहा, लेकिन दलित सामूहिकता का विचार पूरे मालवा में फैल गया।

### **शेखा : सामूहिकता का अगला चरण**

बनरा दलित सामूहिकता के प्रयोग से उत्साहित पंजाब स्टूडेंट्स यूनियन (पीयसयू) के छात्रों ने

सरकारी दस्तावेजों की छान-बीन से बनरा गांव की पंचायती ज़मीन में दलितों का हिस्सा मालूम किया तथा गांव के दलित परिवारों को लामबंद किया। छात्रों के नेतृत्व में दलित लंबे संघर्ष के परिणाम स्वरूप सामूहिक बोली से दलितों के लिए आरक्षित ज़मीन हासिल करने में सफल रहे। इन्होंने भी प्राप्त ज़मीन पर साझा खेती की प्रणाली को ठोस रूप दिया। शेखा के दलितों ने भी पारंपरिक फसलचक्र से हट कर चारे की सामूहिक खेती शुरू की। महिलाओं को चारे के लिए घास की तलाश के लिए दूर-दूर जाना होता था या जमींदारों की ज़मीन में। जमींदारों के खेतों से घास काटने की अवमानना से मुक्ति मिल गयी। बनरा की सफलता से उत्साहित पूरे राज्य में आंदोलन के विस्तार, संघर्ष को सांगठनिक आयाम देने तथा विभिन्न आंदोलनों के समन्वय के उद्देश्य से ज़मीन प्राप्ति संघर्ष कमेटी (जेडपीयससी) का गठन किया गया। आज मालवा के सैकड़ों गांवों में जेडपीयससी के नेतृत्व में आंदोलन चल रहे हैं।

### **बालद कलां : आंदोलन का समीकरण**

इन आंदोलनों में मौजूदा विवाद का कारण, बालद कलां का आंदोलन सबसे महत्वपूर्ण है। यहां कुल शामलात ज़मीन का रकबा काफी है। 375 एकड़ जिसमें दलितों के लिए आरक्षित ज़मीन का रकबा 125 एकड़ है। पंचायती ज़मीन की नीलामी में पुलिस-प्रशासन तथा ऊंची जातियों की मिलीभगत से फर्जीवाड़े के विरुद्ध 24 मई 2016 को संगरूर जिले की भवानीगढ़ के बालद कलां के दलितों के सड़क-रोको आंदोलन पर पुलिस ने बर्बर लाठीचार्ज किया। महिलाओं समेत कई आंदोलनकारी बुरी तरह घायल हो गये और कई गिरफ्तार। दो लड़कियां कोचिंग सेंटर जा रही थीं उन्हें भी पुलिस ने घसीट-घसीट कर पीटा। 28 मई को जब जनहस्तक्षेप की टीम संगरूर जिले के कुछ आंदोलित गांवों के दौरे पर उन महिलाओं से मिली तो पैरों पर 4 दिन पुरानी चोट के ताजे नीले घाव दिखाते हुए उनके चेहरे पर खौफ नहीं, आत्मविश्वास और संघर्ष के दृढ़ संकल्प के भाव थे। उनके लिए भी यह सिर्फ आर्थिक मुद्दा नहीं है। यह इज्जत का मामला है। पंजाब में खेती के मशीनीकरण तथा कीटनाशकों के प्रयोग से पशुओं के चारे के लिए घास की संभावनाएं कम होकर नहरों के तटों तथा खेतों की मेड़ों तक सिमट गयी हैं। दलितों के पास खेत नहीं थे। महिलाएं जब ऊंची जातियों के किसानों के खेतों से घास काटने जातीं तो उन्हें ज़मीन वालों के हाथों काफी अपमान एवं दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता था। अब उन्हें यह अपमान बर्दाश्त करने की बाध्यता नहीं है।

1961 में कानून बनने के बावजूद गांव के दलित अपने हिस्से की ज़मीन से वंचित थे तथा धनी किसान डमी दलित की बोली के आधार पर दलितों के हिस्से की ज़मीन हड़पते रहे। अपने अधिकार तथा सामूहिकता की ताकत की चेतना से लैस दलितों ने खुद को जेडपीयससी की इकाई

के रूप में संगठित कर अप्रैल 2014 में संघर्ष छेड़ दिया। सामूहिक बोली से नीलामी में पट्टा हासिल कर साझा खेती शुरू कर दी। यहां भी 11 लोगों की निर्वाचित कमेटी सामूहिक उत्पादन-वितरण की देखरेख करती है। अगली बोली के लिए आमदनी बचाकर उत्पाद सब परिवारों में बंट जाता है। थोड़ी ज़मीन में चारे की फसलें, चरी व वर्सीम, बाकी ज़मीन पर खाद्यान्न उपजाते हैं। कल तक जमींदार जिन्हें पैर की जूती समझते थे आज उनका सम्मान से जीना उन्हें रास नहीं आ रहा है। वे प्रशासन की मिलीभगत से इस बार फिर दलितों के हिस्से की ज़मीन हड़पने के चक्कर में हैं, लेकिन दलित भी ज़मीन पर डटे हैं, कुछ भी हो जाये वे ज़मीन न छोड़ने को कटिबद्ध।

Pendu and Khet Mazdoor Union 2014 के आंदोलन में पुलिस की बर्बर मार से हफ्तों कोमा (बेहोशी) में रही गांव की 40 वर्षीय परमजीत कौर पुलिस की बर्बरता की याद कर रो पड़ीं, लेकिन उन्होंने बताया कि अपनी ज़मीन के चलते जमींदारों के अपमान से मुक्ति की खुशी में पुलिस की यातना की पीड़ा छोटी दिखती है। बालद कलां की सफलता के बाद संगरूर और बरनाला जिलों के लगभग 20 गांवों में दलित सामूहिक (दलित कलेक्टिव) बन चुके हैं, बाकी गांवों में भी दलित लामबंद हो रहे हैं। छोटी ज़मीनों पर साझा खेती के बाद इतनी बड़ी ज़मीन पर साझा खेती एक चुनौती थी जिसे दलितों ने स्वीकार किया तथा साझा खेती के फायदे को चिन्हित। यहां भी सामूहिकता का सैद्धांतिक आधार सामूहिक स्वामित्व, सामूहिक श्रम प्रक्रिया तथा जनतांत्रिक वितरण है।

### **दलित महापंचायत**

मई में पंचायती ज़मीन की नीलामी से पहले अप्रैल 2015 में जेडपीयससी ने भवानीगढ़ में दलित महापंचायत का आयोजन किया जिसमें मालवा के 5 जिलों के लगभग 100 गांवों से हजारों लोगों ने भागीदारी की। पंचायत ने जिन गांवों में दलित सामूहिकता बन चुकी है उन्हें और सुदृढ़ करने तथा अन्य गांवों में इसके विस्तार पर विचार-विमर्श किया। 20 मार्च को गांवों में एक और दलित पंचायत हुई। इस गांव के दलितों ने भी ज़मीन हासिल कर सामूहिकता का निर्माण कर लिया है। 102 गांवों के लगभग 400 दलितों ने इस सम्मेलन में भागीदारी की।

### **मतोई : महिला सशक्तिकरण की मिसाल**

वैसे तो कई गांवों में दलितों के संघर्ष जारी हैं लेकिन मतोई का संघर्ष गौरतलब इसलिए है कि इस गांव के आंदोलन की शुरुआत और नेतृत्व छात्राओं ने किया। शहर में पढ़ने वाली संदीप कौर के नेतृत्व में कॉलेज में की छात्राओं ने दलित परिवारों को लामबंद किया तथा लंबे संघर्ष के बाद ज़मीन हासिल कर साझा खेती और दलित सामूहिकता का गठन किया।

## खेड़ी : सामाजिक न्याय का मजाक

1976 में खेड़ी गांव के भूमिहीन किसानों को आवासीय प्लॉट आर्बटित किए गये। पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के एक आदेशानुसार, आर्बंटन के 3 साल के अंदर अगर मकान न बने तो पंचायत ज़मीन वापस ले लेगी। लेकिन 4 साल पहले तक उन्हें इसकी सूचना ही नहीं थी। खेड़ी के दलितों ने जेडपीयससी के नेतृत्व में अपनी ज़मीन को लाल झंडे से घेर कर वहीं डेरा डाल दिया है। धनी किसानों तथा पुलिस के उत्पीड़न तथा धमकियों की परवाह न कर वे अपनी ज़मीन पर डटे हैं तथा सामूहिक खेती का मामला तो नहीं है लेकिन साझा रसोई का प्रयोग वे कर रहे हैं। धनी किसानों, पुलिस तथा प्रशासन के दमन-उत्पीड़नों को धता बताते हुए, आंधी-बारिस से लड़ते हुए वे अब अपनी ज़मीन से हटने के लिए तैयार नहीं हैं, कुछ भी हो जाये।

इनकी ज़मीन छीनने के लिए धनी किसान पुलिस-प्रशासन की मदद से फर्जीवाड़े की कोशिश में लगे हैं, लेकिन दलित भी ज़मीन पर आखिरी सांस तक कब्जा न छोड़ने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपमान झेलते हुए बड़ी जातियों के किसानों के खेतों में बुआई-कड़ाई करने वाले इन दलितों के लिए अपनी ज़मीन का विचार ही किसी सपने सा है। जेडपीयससी के 54 साल के एक कार्यकर्ता, बात करते-करते 2 साल पहले की अनुभूतियों में खो गये जब ज़िंदगी में पहली बार 'अपने' खेत में फावड़ा चलाया था। वे उन 700-800 के आंदोलनकारियों में थे जिन्होंने 2014 के संघर्ष किया। उस समय भी पुलिस ने ऐसी ही बर्बरता दिखाई थी। वे इतनी बुरी तरह घायल हुए थे कि जटिल सर्जरी करनी पड़ी थी। "चोट का दर्द काफी था लेकिन अपने खेत के विचार की मन की खुशी से दब गया था।" शासन की पुरानी रणनीति है आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ताओं पर फर्जी मुकदमों। लेकिन पंजाब के दलितों ने मुकदमों से डरना बंद कर दिया है। इस पूरे आंदोलन में पुलिस-प्रशासन की भूमिका दलित विरोधी रही है।

## निष्कर्ष

ये आंदोलन इस धारणा को खंडित करते हैं कि पंजाब के खेतिहर संबंध सामंती की बजाय पूंजीवादी हैं क्योंकि जैसा कि स्पष्ट है कि ऊंची जातियों तथा प्रशासन में दलितों के प्रति भेदभाव आज भी एक सच्चाई है। 1961 में ज़मीन आरक्षण का कानून पास हुआ लेकिन अब तक वह कागजों पर ही रहा। वैसे तो सरकार को चाहिए कि पंचायती ज़मीन की हर साल नीलामी के बजाय सामूहिक किसानों को लंबी अवधि के लिए पट्टे पर दे दे। छात्रों की पहल पर दलितों ने ज़मीन के हक्क की जो लड़ाई शुरू की है, उसमें व्यापक जनआंदोलन की संभावनाएं छिपी हैं।

— ईश मिश्रा, फारवर्ड प्रेस में प्रकाशित लेख के प्रमुख अंश

# मेरी पहचान

—दलपत चौहान

हाँ, मैं वही हूँ  
युग-युग से जिसे पहचानने का  
तुम करते रहे हो इन्कार ।  
अश्वमेघ यज्ञों में  
जब तुम हजार-हजार अश्वों का करके संहार  
पवित्र मांस की टोकरियाँ भरकर  
घर की ओर प्रयाण कर रहे थे  
तब यज्ञकुंड की अग्नि को मैंने ही किया था शान्त ।  
राजमार्ग पर टपके लहू को मैंने किया था साफ़  
तुम तो सिर्फ शब्दोच्चार करते  
भीख मांगते देव से  
जबकि मैंने तो समिध अर्पण किया था देव को ।  
तुम्हारे लिए युद्धभूमि में क्रल्लत हुआ वही हूँ मैं ।  
युग-युग से जिसे पहचानने का  
तुम करते रहे हो इन्कार ।  
तुम्हारे कृष्ण ने जब किया था स्थापन सोमनाथ  
इन बाहुओं ने ध्वंस किया था चन्दन वृक्षों का ।  
बीलीपर्ण चुनने की संवेदना अब भी अक्बंध है पोरों पर ।  
गंगाजल से शंकराभिषेक हो रहा था तब  
मंदिर के बाहर खाली कांवड़ लिए  
पूरब की ओर निहारता  
मैं प्रतीक्षा कर रहा था सूर्य की ।  
श्रृंखलाओं से बद्ध  
जहाजों पर लादकर मुझे ले जाया गया था अमरीका  
एक हाथ में बेड़ियाँ, दूसरे में पतवार ।  
जिसे बाजारू माल समझकर बेचा था  
हाँ, मैं वही हूँ  
युग-युग से जिसे पहचानने का  
तुम करते रहे हो इन्कार ।  
आज टेसू के फूल हो कर खिल उठा हूँ ।  
शहर की बाड़, खेत का चास हूँ ।  
कालिदासों-वाल्मीकियों से उपेक्षित मुझे  
तुम करते हो पहचानने की कोशिश ?



गांव के छोर पर  
गुफावासी जैसा  
सायाहीन  
लेकिन दोपहरी जैसा तीव्र  
असाढ़ की गड़गड़ाहट  
देवहूमा के पंख की फड़फड़ाहट  
हो जाता हूँ बार-बार ।  
मैं विराट  
आया हूँ लेकर मेरी पहचान ।  
सुनो, तुम्हारे कान के करीब  
मेरे घूंसे की गूँज ।  
हाँ, मैं वही हूँ  
युग-युग से जिसे पहचानने का  
तुम करते रहे हो इन्कार ।

([http://gujaratadililiteratureinhindi.blogspot.in/2011/08/blog-post\\_8833.html](http://gujaratadililiteratureinhindi.blogspot.in/2011/08/blog-post_8833.html))

## isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com) /वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in) / [www.sach.org.in](http://www.sach.org.in)

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017